श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित

शतक नामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

पं० कैलाशचन्द्रजी रचित

हिन्दी व्याख्या आदि सहित

सम्पादक

न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भा० की प्रस्तावनाके लेखक

तथा

साप्ताहिक पत्र जैनसन्देशके सम्पादक

न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैन विद्यालय

बनारस

प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला, आगरा।

वीर निर्वाण सम्वत् २४६८

प्रथम संस्करण १०००] १९४२ [मूल्य ३)

मुद्रक
प० कैलासनाथ भार्गव
भार्गवभूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

समर्पण

श्री पण्डित सुखलालजी सघवी,

प्रधानाध्यापक जैन दर्शन,

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस,

को

उनके मण्डलके साथ घनिष्ठ सबधकी

यादमें

यह पञ्चमकर्मग्रन्थका अनुवाद समर्पित करके

आ० पु० प्र० मण्डल अपनेको कृतकृत्य

समझता है।



श्रीमती पानबाई

श्रीमती पानबाईजीका परिचय

श्रीमती पानबाइ उपनाम पन्नो बीबी लाला बनारसीदासजी नाहर जौहरी लखनऊकी पुत्री थीं। आपका पितृकुल बहुत प्रतिष्ठित है। आपके दादा नवाब वाजिद अलीशाहके जौहरी व मुकीम थे। वि० स० १९४१ में आपका जन्म हुआ और दस वर्षकी उम्रमें लाला चिम्मनलालजी चोरडिया के पुत्र लाला बाबूलालजीसे विवाह हुआ। उस वक्त वरकी उम्र १४ साल की थी और वह छठे दर्जेमें पढते थे। आपका खानदान भी बहुत प्रतिष्ठित था, जो कि अबतक लाला गुलाबचन्द छुट्टनलाल जौहरी आगरावालोंके नाम से समस्त जैन ओसवाल समाजमें प्रसिद्ध है। विवाह बहुत धूमधामसे हुआ। किन्तु विवाहसे लौटनेके बादही बाबूलालजी बीमार पड गये और ८ महीने तक बीमार रहकर सदाके लिये चल बसे। उनकी मृत्युसे दोनों कुटुम्बों पर वज्रका पहाड टूट पड़ा। श्रीमती पानबाइकी ददिया सास और सासने इस समय बड़े धीरजसे काम लिया और पानबाइको दिलासा देकर उसे बड़े प्यारसे रक्खा। ददिया सासके गुजर जानेके बादसे इनके वैधव्य जीवनका अधिक भाग अपनी माके ससर्गमें ही बीता। आपकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। उनके साथमें पानबाइने सैकड़ों बार तीर्थयात्रा की और खूब तपस्यामय जीवन बिताया। माता-पिताकी मृत्यु होजानेके बाद वे आगरा या लखनऊ रहा करती थीं। प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ आदि क्रिया करती थीं। पठनपाठनकी ओर उनकी अच्छी रुचि थी किन्तु उनका विशेष लक्ष्य तीर्थयात्रा व तपस्यामें रहता था। जैसे जैसे तपस्या करती

थीं, निर्बल होती जाती थीं। इसीसे प्राय बीमार रहा करती थीं। कुछ वर्ष पहले उनके छोटे भाई शिखरचन्दजी चल बसे। उसके बाद उनके बड़े भाई बाबू केशरीचन्दजी बीमार पड़े, जिनकी इन्होंने तीन महीने तक सेवा की। मगर वह भी गुजर गये। उनके गुजरते ही इनकी दशा पागलोंकीसी होगई और यह बीमार पड़ गई। लखनऊमें बहुत कुछ इलाज करानेपर भी जब कोई लाभ न हुआ तो अपने छोटे भाई खेमचन्दजीसे कहकर आगरासे अपने श्वसुरालयमेंसे बाबू दयालचन्दजी जौहरीको बुलवाया और उनसे आगरा ले चलनेकी प्रेरणा की। बाबू दयालचन्दजी अपने भतीजे धर्मचन्दजीके साथ बड़ी कठिनाईसे उन्हें आगरा लेगये। वहां तेरह दिनतक जीवित रहकर और सबसे क्षमा मांगकर जेठबदी १४ सं० १९९७ को ५६ वर्षकी उम्रमें परलोक सिधार गई। मरते समय वे ज्ञानदानमें ५००) पचसौ रुपयेके सहायतार्थ देगई थीं। जिसके लिये मंडल उनका आभारी है।



प्रकाशकका वक्तव्य

प्रिय पाठको !

जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह पुस्तकप्रचारक मण्डल आजसे ३० वर्ष पहिले जारी किया गया था कि हिन्दीभाषा भाषियोंके पढ़नेके लिये धार्मिक ग्रन्थ तैयार किये जावें, उसकी पूर्ति करनेके लिये अन्य कइ ग्रन्थोंका प्रकाशन होनेके सिवाय चार भाग इस ग्रन्थके श्री पं० सुखलालजीके कर कमलोंसे लिखने व छपनेके बाद कितने ही पाठकोंकी उत्कट अभिलाषा देखते हुए जो कि चौथे कर्मग्रन्थके छपनेके बादसे चल रही थी, सम्वत् १९९८ से पाँचवें कर्मग्रन्थको तैयार करनेका विचार मण्डलने किया। यद्यपि यह काम तैयारी व खर्चके ख्यालसे सरल नहीं था, तब भी बार बार यह ख्याल करके कि कर्मग्रन्थके छहों भाग मण्डलसे छपकर निकल जावें तो एक बहुत बड़े कामकी पूर्ति हो जाती है, अतः इसके लिये पं० सुखलालजीसे बार २ प्रार्थना की गइ। मगर पण्डितजीको दूसरे ग्रन्थोंकी तैयारी में लगे रहनेसे बिल्कुल फुरसत न मिलती थी। तब उनसे प्रार्थना की गइ कि वह अपना देख रेखमें दूसरे किसी पण्डितसे तैयार करा देवें। इसपर उन्होंने गौर करके श्री पं० कैलाशचन्द्रजीको इस विषयके योग्य पण्डित समझकर उनके सुपुर्द किया, जिन्होंने सतत परिश्रमके बाद इसको तैयार किया। इस ग्रन्थमें दूसरे पण्डितोंके कर्मग्रन्थोंसे खास २ खूबियाँ जो हैं उसको तो पाठकगण खुद समझ लेंगे। इसके लिये हम पं० सुखलालजी व पं० कैलाशचन्द्रजी दोनोंके अति आभारी हैं कि जिन्होंने हमारे पाँचवें कर्म-ग्रन्थके छपनेके विचारको कार्यरूपमें प्रस्तुत किया। साथ ही हम श्रीमती पानबाइ जी आगराके भी आभारी हैं कि जिन्होंने अपने जीवनमें ५००) सहायताका वचन देकर उसको पूरा किया।

मन्त्री—जवाहरलाल नाहटा।
दयालचन्द्र जौहरी।

पूर्वकथन



कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवादके साथ तथा हिन्दी अनुवादप्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डलके साथ मेरा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि इस अनुवादके साथ भी पूर्वकथन रूपसे कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य सा हो जाता है ।

जैन वाङ्मयमें इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र मौजूद हैं उनमेंसे प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थोंका साक्षात् सम्बन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वके साथ बतलाती हैं । दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वको दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराएँ समानरूपसे मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीरकी सर्वज्ञ वाणीका साक्षात् फल है । इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यताके अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूपसे नहीं तो अन्ततः भावरूपसे भगवान् महावीरके साक्षात् उपदेशका ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है । इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूपसे केवल भगवान् महावीरकी ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूर्व पूर्वमें हुए अन्यान्य तीर्थङ्करोंसे भी पूर्वकालकी अतएव एक तरहसे अनादि हैं । प्रवाहरूपसे अनादि होनेपर भी समय समयपर होनेवाले नव नव तीर्थङ्करोंके द्वारा वे पूर्व पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं । इसी मान्यताको प्रकट करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें, नैयायिक जयन्त भट्टका अनुकरण करके बड़ी खूबीसे कहा है कि—"अनादय एवैता विद्या संक्षेपविस्तरविवक्षया नव

नरोभवति, तत्तत्कर्तृकशास्त्रं ते। किन्त्वाधीपी न कदाचिद नीदृश जगत्।'

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता एसी है कि जिसका साम्प्रदायिक लोग आजतक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदके अनादित्वकी मान्यताका। साम्प्रदायिक लोग दो प्रकारके होते हैं—बुद्धि-अप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको बुद्धिका प्रयोग बिना किए ही श्रद्धामात्रसे मान लेते हैं और बुद्धिप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको केवल श्रद्धासे मान ही नहीं लेते पर उसको बुद्धिके द्वारा यथा सम्भव समर्थन भी करते हैं। इस तरह साम्प्रदायिक लोगोंमें पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यताका आदरणीय स्थान होनेपर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्वके सम्बन्धमें एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना प्राप्त है। वह दृष्टि है ऐतिहासिक।

एक तो जैन परम्परामें भी साम्प्रदायिक मानसके अलावा एतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेका युग कभीसे आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युगमें प्रकाशित किए जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जैनों तक ही सीमित नहीं रहते। जैनतर भी उन्हें पढ़ते हैं। सम्पादक, लेखक, अनुवादक और प्रकाशकका ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ किस तरह अधिकाधिक प्रमाणमें जैनेतर पाठकोंके हाथमें पहुँचे। कहनेकी शायद ही जरूरत हो कि जैनतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकता। अत एव कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्रके बारेमें हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे कितना ही क्यों न सोचें और लिखें फिर भी जब तक उसके बारेमें हम ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशनका उद्देश्य ठीक ठीक सिद्ध हो नहीं सकता। साम्प्रदायिक मान्यताओंके स्थानमें एतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेके पक्षमें और भी प्रबल दलीलें हैं। पहला तो यह कि अब धीरे धीरे कर्मविषयक जैन वाङ्मयका प्रवेश

कालिजोंके पाठ्यक्रममें भी हुआ है जहाँका वातावरण असाम्प्रदायिक होता है। दूसरी दलील यह है कि अब साम्प्रदायिक वाङ्मय सम्प्रदायकी सीमा लांघकर दूर दूरतक पहुँचने लगा है। यहाँतक कि जर्मन विद्वान् ग्लेज़नप् जो "जैनिस्मस्"—जैनदर्शन जैसी सबसग्राहक पुस्तकका प्रसिद्ध लेखक है, उसने तो श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थोंका जर्मन भाषामें उल्था भी कमीका कर दिया है और वह उसी विषयमें पी० एच्० डी० भी हुआ है। अतएव मैं इस जगह थोड़ी बहुत कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र सम्बन्धी चर्चा ऐतिहासिक दृष्टिसे करना चाहता हूँ।

मैंने अभी तक जो कुछ वैदिक और अवैदिक श्रुत तथा मार्गका अवलोकन किया है और उसपर जो थोड़ा बहुत विचार किया है उसके आधारपर मेरी रायमें कर्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली नीचे लिखी वस्तुस्थिति खास तौरसे फलित होती है जिसके अनुसार कर्मतत्त्वविचारक सब परम्पराओंकी शृंखला ऐतिहासिक क्रमसे सुसङ्गत हो सकती है।

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थके सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टिमें इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व माननेके लिए बाधित न था जो अच्छे बुरे जन्मान्तर या परलोककी प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परंपराके नामसे विख्यात हुआ। पर साथही उस अति पुराने युगमें भी ऐसे चिंतक थे जो बतलाते थे कि मृत्युके बाद जन्मान्तर भी है*। इतना हीं नहीं

* मेरा ऐसा अभिप्राय है कि इस देश में किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक मार्ग आया और वह ज्यों ज्यों फैलता गया त्यों त्यों इस देशमें उस प्रवर्तक धर्मके आनेके पहलेसे ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकाधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी दूसरी शाखा ईरानमें

बल्कि इस दृश्यमान लोकके अलावा और भी श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक हैं। ये पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और ये ही पुनर्जन्म और परलोकके कारण रूपसे कर्मतत्त्वको स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म जन्मान्तर एवं इहलोक परलोकका सम्बन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्मकी मान्यताके आधारपर कर्मतत्त्वका स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपनेको परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

कर्मवादियोंके मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्मका फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोकके वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिये। यह दल परलोकवादी होनेसे तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूपसे धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे, धर्म अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थोंको मानता था, उसकी दृष्टिमें मोक्षका अलग पुरुषार्थ रूपसे स्थान न था।

जरथोस्थियनधर्मरूपसे विकसित हुई। और भारतमें आनेवाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी शाखाका निवर्तक धर्मवादिओंके साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँके पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा कर्म, मोक्ष ध्यान, योग, तपस्या आदि विविध मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्यकी नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्यमें पतिके लिए पत्नीका सहचार अनिवार्य न था प्रत्युत त्यागमें एक दूसरेका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। जबकि प्रवर्तक धर्ममें इससे सब कुछ उल्टा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें गार्हस्थ्य और त्यागाश्रम की प्रधानतावाले जो संवाद पाये जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मोंके विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्ति धर्मवालेके दर्शनके सूत्रग्रन्थोंमें मोक्षको ही पुरुषार्थ लिखा है जबकि याज्ञिक मार्गके सब विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशोंमें उन दोनों धर्मोंका समन्वय भी हो गया है।

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्मका उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दलके मन्तव्यका सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेपमें यह है कि धर्म-शुभकर्मका फल स्वर्ग और अधर्म अशुभकर्मका फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हींके द्वारा जन्म जन्मान्तरकी चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मतके अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्थाका समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणोंसे धर्मकी उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्मकी उत्पत्ति बतलाकर सब तरहकी सामाजिक सुव्यवस्थाका ही संकेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नामसे प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादियोंका दूसरा दल उपर्युक्त दलसे बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखनेवाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्मका कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मोंके आचरणसे धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्मकी तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवनका लक्ष्य है और मोक्षके वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्मका उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्नसे वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्मका उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मतका सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दलकी दृष्टिके विरुद्ध ही कर्मकी उत्पत्तिका असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्मका मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं, किन्तु अज्ञान और राग द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण

ों न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पापका भेद स्थूल दृष्टिवालोंके लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं रागद्वेषमूलक होनेसे अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तक धर्मवादिदल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा। जब इसने कर्मका उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इसे कर्मके उच्छेदक एवं मोक्षके जनक कारणोंपर भी विचार करना पड़ा। इसी विचारके फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किए वही इस दलका निवर्तक धर्म है। प्रवर्तक और निवर्तक धर्मकी दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है। एकका ध्येय सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षा और सुव्यवस्थाका निर्माण है जब दूसरेका ध्येय निजी आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है, अतएव मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं रागद्वेष जनित होनेसे उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग् ज्ञान और रागद्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकीके तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयमके ही साधनरूपसे माने गए।

निवर्तक धर्मवादिओंमें अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्ष भेद कुछ तो वादोंकी स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुताका आभारी था और कुछ अंशोंमें तत्त्वज्ञानकी जुदी जुदी प्रक्रियापर भी अवलंबित था। ऐसे मूलमें तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं। एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा परमाणुवादी होकर भी प्रधानकी छायावाला था। इनमेंसे पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होनेपर भी प्रवर्तकधर्मका उतना विरोधी न था जितने कि पिछले दो। यही पक्ष आगे जाकर न्याय वैशेषिक दर्शनरूपसे प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्यन्तिक कर्मनिवृत्तिका समर्थक होनेसे प्रवर्तकधर्म अर्थात् श्रौत स्मार्तकर्मको भी हेय बतलाता था।

यही पक्ष साख्ययोग नामसे प्रसिद्ध है और इसीके तत्त्वज्ञानकी भूमिकाके ऊपर तथा इसीके निवृत्तिवादकी छायामें आगे जाकर वेदान्तदर्शन और सन्यासमार्गकी प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधानच्छायापन्न अर्थात् परिणामी परमाणुवादीका रहा जो दूसरे पक्षकी तरह ही प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एव निर्ग्र थ दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। बौद्ध-दर्शन प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी है पर वह दूसरे और तीसरे पक्षके मिश्रणका एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। सभी निवर्तक वादियोका सामान्य लक्षण यह है कि किसी न किसी प्रकारसे कर्मोंकी जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहासे फिर जन्मचक्रम आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी प्रवर्तकधर्म मात्र प्रचलित रहा हो और निवर्तक धर्मवादका पीछेसे प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है जब कि समाजमें प्रवर्तक धर्मकी प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तियों तक ही सीमित होनेके कारण प्रवर्तक धर्म-वादियोंकी तरफसे न केवल उपेक्षित ही था बल्कि उसके विरोधकी चोटें भी सहता रहा। पर निवर्तक धर्मवादियोंकी जुदी जुदी परपराओंने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वोंका क्रमश इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्मके होते हुए भी सारे समाजपर एक तरहसे निवर्तकधर्मकी ही प्रतिष्ठाकी मुहर लग गई। और जहाँ देखो वहाँ निवृत्तिकी ही चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्तिके विचारोंसे ही निर्मित एव प्रचारित होने लगा।

निवर्तकधर्मवादियोंको मोक्षके स्वरूप तथा उसके साधनोंके विषयमें तो ऊहापोह करना ही पड़ता था पर इसके साथहा साथ उनको कर्मतत्त्वा के विषयमें भी बहुत विचार करना पड़ा, उन्होंने कर्म तथा उसके भेदोंकी परिभाषाए एव व्याख्याए स्थिर की। कार्य और कारणकी दृष्टिसे कर्मतत्त्व का विविध वर्गीकरण किया। कर्मकी फलदान शक्तियोंका विवेचन किया।

जुदे जुदे विपाकोंकी काल मर्यादाएँ सोचीं। कर्मोंके पारस्परिक सम्बन्धपर भी विचार किया। इसतरह निवर्तक धर्मवादिओंका खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और इसमें दिन प्रतिदिन नये नये प्रश्नों और उनके उत्तरोंके द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तक धर्म वादी जुदे जुदे पक्ष अपने सुभीतेके अनुसार जुदा जुदा विचार करते रहे पर जबतक इन सबका संमिलित ध्येय प्रवर्तक धर्मवादका खण्डन रहा तब तक उनमें विचार विनिमय भी होता रहा और उनमें एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्यमें परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदिका शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखनेमें आता है, जब कि उक्त दर्शनोंका मौजूदा साहित्य उस समयकी अधिकांश पैदाइश है जिस समय कि उक्त दर्शनोंका परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था। मोक्षवादियोंके सामने एक जटिल समस्या पहलेसे यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगनेके समय प्रत्येक क्षणमें नये नये भी कर्म बधते हैं, फिर इन सब कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कैसे सभव है, इस समस्याका हल भी मोक्षवादिओंने बड़ी खूबीसे किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनोंके साहित्यमें उस हलका वर्णन संक्षेप या विस्तारसे एकसा पाते हैं। यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तक-वादिओंके भिन्न भिन्न पक्षोंमें खूब विचार विनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे धीरे एसा समय आगया जब कि ये निवर्तकवादी पक्ष आपसमें प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व-के विषयमें ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीचमें एसा भी हुआ कि किसी निवर्तक वादिपक्षमें एक खासा कर्मचिंतक वर्ग ही स्थिर हो गया जो मोक्षसंबंधी प्रश्नोंकी अपेक्षा कर्मके विषयमें ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसीका अध्ययन अध्यापन करता था जैसा कि अन्य

अन्य विषयके साथ चिन्तक वर्ग अपने अपने विषयमें किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्रका चिन्तकवर्ग जैन दर्शनका कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्मके बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायोंके बारेमें तो सब मोक्षवादी गौण मुख्यभावसे एक मतही हैं पर कर्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्गका जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्मको चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणुको परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रियाके अनुसार कर्मको चेतन और जड़ उभयके परिणामरूपसे उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्यके प्राकृत अन्तःकरणकी तरह संकोच विकासशील था, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ परमाणुओंके साथ एक-रस भी हो सकता है। वैशेषिक आदिके मतानुसार कर्म चेतनधर्म होनेसे वस्तुतः चेतनसे जुदा नहीं और सांख्यके अनुसार कर्म प्रकृतिधर्म होनेसे वस्तुतः जड़से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकोंके मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभयरूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्वके चिन्तकोंमें परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। यह समय कितना पुराना है यह निश्चयरूपसे तो कहाही नहीं जा सकता पर जैनदर्शनमें कर्मशास्त्रका जो चिरकालसे स्थान है, उस शास्त्रमें जो विचारोंकी गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंका असाधारण निरूपण है इसे ध्यानमें रखनेसे यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन दर्शनकी विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथके पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्याके धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और

यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्वके नामसे विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्वशब्दका मतलब भगवान् महावीरके पहलेसे चला आनेवाला शास्त्र विशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान् पार्श्वनाथके पहलेसे ही एक या दूसरे रूपमें प्रचलित रहे। एक ओर जैन चिन्तकोंने कर्मतत्त्वके चिन्तनकी ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सांख्य-योगने ध्यानमार्गकी ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यानपर ही अधिक भार दिया। पर सबोंने विरासतमें मिले कर्मचिन्तनको अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तारमें जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य योग, बौद्ध आदि दर्शनोंके कर्मचिन्तनोंके साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूलमें एकता भी है जो कर्मशास्त्रके अभ्यासिओंके लिए ज्ञातव्य है।

सामान्यरूपसे संक्षिप्त ऐतिहासिक अवलोकन करनेके बाद जब मैं प्रस्तुत अनुवाद तथा अनुवादक आदिके बारेमें थोड़ा लिख देना जरूरी समझता हूँ। जब मैंने ई० स० १९१७ से १९१९ तकमें चार कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद किया तब मेरे कुछ सम्मानित मित्रोंने मुझसे कहा कि तुम कर्मग्रन्थ जैसे मामूली विषयोंपर शक्ति क्यों खर्च करते हो? पर मैंने अपना अनुवाद पूरा ही किया। मेरा धारणा पहलेसे यह तो थी ही कि भारतीय दर्शनोंमें जो साम्प्रदायिकता घुस गई है, ज्ञानके क्षेत्रमें भी जो चौकाबृत्ति बध गई है वह तुलनात्मक तटस्थ अध्ययनके द्वारा ही मिट सकती है। इस धारणाके अनुसार मैंने कर्मग्रन्थोंके अनुवादके साथ प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि रूपसे कुछ न कुछ लिखा। मैंने उस समय यह सोच लिया था कि कर्मतत्त्वके बारेमें भी ऐसा लिखना कि जिससे सहोदर भाई जैसे श्वेताम्बर दिगम्बर दो फिरके कमसे कम ज्ञानके प्रदेशमें तो एक दूसरे निकट आवें और परस्पर आदरशील बनकर उदारभावसे एक

दूसरेका साहित्य पढ़ें। इस विचारके अनुसार चारों कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें उत्तरोत्तर श्वेताम्बर दिगम्बर ग्रन्थोंके आधारपर अधिकाधिक तुलना मैंने की थी। आगे मेरा इरादा यह था कि पाचवें छठे कर्मग्रन्थोंके अनुवादमें तो और भी विशेष तुलना करूँ। पाचवें कर्मग्रन्थका दो तिहाई अनुवाद मैंने कर भी लिया था और उसकी कापिया आगरा रखी थीं। मैं उसे पूरा करूँ इसके पहले ही अहमदाबाद चला गया और अन्य प्रवृत्तिमें वह काम छूट गया। जब कभी आगरा आता तो उन कापिओंको सभाल लेता। फिर भी अवसर न आया कि उसे मैं पूरा करूँ। क्रमश वे कापिया भी गुम हुई। इधर मेरे पुराने मित्र बाबू दयाल चन्दजीका बार बार अनुरोध होता रहा कि बाकीके कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद पूरा हो। मैं ऐसे योग्य आदमीकी तलाशमें था कि जो इस कामके लिए पूरा क्षम हो। काशीमें प० कैलाशचन्दजी परिचित थे। और वे धर्मशास्त्रके अध्यापक भी हैं। उनकी विचार तथा लेखनकी विशदतासे मैं पूरा परिचित था। अतएव मैंने उन्हींसे पचमकर्मग्रन्थका अनुवाद करनेको कहा। उन्होंने मेरा अनुरोध और कार्मोका बोझ होते हुए भी मान लिया और बहुत श्रमसे इस अनुवादको तैयार किया।

प० कैलाशचन्दजी दिगबरीय कर्मसाहित्यके तो पारगामी थे ही, पर जब मैंने उनसे मेरी अनुवादविषयक दृष्टि सूचितकी तब उन्होंने श्वेताम्बरीय कर्मविषयक करीब करीब महत्त्वका सपूर्ण साहित्य पढ डाला और फलत यह अनुवाद तुलनात्मक दृष्टिसे तैयार किया। मेरे प्रथमके चार अनुवादोंमें दिगबरीय साहित्यकी तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी कि इस अनुवादमे है। कारण स्पष्ट है। पडितजीको सारा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र स्मरण है। इसतरह प्रस्तुत अनुवादमें श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असलमें एकही स्रोतके दो प्रवाहमात्र हैं वे गगायमुनाकी तरह मिल गए हैं। उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्य-

यनके बाद ही लिखा है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। इस तरह मुझे जो पाँचवें कर्मग्रन्थका अनुवाद न कर सकनेका असंतोष था वह इस अनुवादसे दूर ही नहीं हुआ बल्कि एक प्रकारका संतोषलाभ भी हुआ है। इस अनुवादके द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासिओंको दिगम्बर परंपराका तत्त्व जाननेकी बहुत कुछ सामग्री मिलेगा। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवादको पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मयका सौरभ भी अनुभूत होगा। पं० कैलाशचन्दजी दिगम्बर परंपराके हैं। उनके किए अनुवादकी ओर अगर दिगम्बर परंपराके अभ्यासिओंका ध्यान गया तो निःसंदेह वे मौजूदा ज्ञानधरातलसे बहुत कुछ ऊंचा उठेंगे। और उनका ज्ञानका दायरा विस्तीर्ण होगा। पण्डितजीने अनुवाद पूरा करनेके बाद मुझको सुनाया तब अमुक भाग सुननेके बाद मैंने उसे तज्ज्ञ सहृदय मित्र हीराचन्द देवचन्दको अहमदाबाद देखनेके वास्ते भेज दिया, जैसा कि मैं अपने अनुवादोंके बारेमें भी करता रहा। श्रीयुत हीराचन्द भाईका कर्मशास्त्रके विषयमें खासकर श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रोंके विषयमें जो स्थान है वह मेरी जानकारीमें और किसी श्वेताम्बर विद्वान्‌का नहीं है। उन्होंने बड़ी लगन और दिलचस्पीसे इस अनुवादको बारीकीके साथ देखा और मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी उन्होंने कुछ सूचनाएं सुधारणाकी दृष्टिसे कीं। पं० कैलाशचन्दजीने उन सूचनाओंमेंसे जो ठीक थीं उसके अनुसार यथास्थान सुधार किया। इसतरह अन्तमें यह ग्रन्थ तैयार होकर अभ्यासिओंके संमुख उपस्थित होता है। मैं पं० कैलाशचन्दजी तथा भाई हीराचन्द दोनोंके श्रमका मूल्य समझता हूं और एतदर्थ अपनी ओरसे तथा मण्डलकी ओरसे उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

प्रकाशक मण्डलने कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके हिन्दी साहित्यमें एक नया ही प्रस्थान शुरू किया है। यों तो परमश्रुतप्रभावक मण्डलकी ओरसे दिगम्बरीय जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड ग्रन्थोंके दिगम्बरीय

विद्वानोंके द्वारा किए गये अनुवाद बहुत पहलेसे ही प्रसिद्ध थे। और उन अनुवादोंका पुनः संस्करण भी एक प्रसिद्ध दिगम्बर पंडितके द्वारा ही हुआ है जो दिगम्बरीय कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ समझे जाते हैं और जिनकी मातृभाषा भी हिन्दी है। फिर भी आ० मण्डल द्वारा प्रकाशित और प्रकाश्यमान प्रस्तुत अनुवादके साथ जब उन जीवकाण्ड कर्मकाण्डके अनुवादोंकी तुलना करता हूँ तब कहना पड़ता है कि मण्डलका प्रयत्न कहीं ज्यादा सफल और व्यापक है। मंडलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी कर्मग्रन्थोंके बाद तो गुजराती भाषामें भी कर्मग्रन्थोंके अच्छे अनुवाद प्रसिद्ध हुए हैं, जो प० भगवानदासके किए हुए हैं। और जिनमें मण्डलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादमेंसे अमुकसामग्री भी अक्षरशः ली गई है। मंडल के हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषी प्रान्तोंके अलावा गुजरातमें इतने अधिक प्रचलित हुए हैं कि मंडलकी पुस्तकोंकी बिक्रीका बड़ा भाग गुजरातमें ही हुआ है। प्रस्तुत अनुवाद भी गुजरातमें बहुत प्रचलित होगा और संभव है कि इसके आश्रयसे गुजरातीमें भी अनुवाद तैयार हो।

अन्तमें मैं दो एक बातोंकी ओर पाठकोंका ध्यान खींचता हूँ। प० कैलाशचन्द्रजीने अपनी स्पष्टभाषिताके अनुसार खुद ही कहा है कि अभ्यासके कारण दिगम्बरीय परिभाषाओं और मन्तव्योंसे जितना मैं परिचित हूँ उतना श्वेताम्बरीय परिभाषाओंसे नहीं। यह उनका कहना वास्तविक है। और इसमें कोई दोष नहीं प्रत्युत गुण है। फिर भी उन्होंने श्वेताम्बरीय परिभाषाओं को समझने और अपनानेका भरसक प्रयत्न किया है। प्रस्तावनामें उन्होंने दोनों परम्पराओंके ग्रन्थोंका परिशीलन करके मतलबकी ठीक २ बातें लिखी हैं, जहाँ कहीं जैन ग्रन्थोंके हवालेका सवाल आया वहाँ उन्होंने विशेषरूपसे दिगम्बरीय ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किए हैं। यह स्वाभाविक है। क्योंकि उन्हें श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उतने उपस्थित और स्मृतिगत नहीं हो सकते जितने दिगम्बरीय ग्रन्थ। पर इससे श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय अभ्यासियोंको ता

सम्पादकका वक्तव्य

साढ़े तीन वर्षके लगभग हुए, पं० सुखलालजीकी प्रेरणासे मैंने प्रथम कर्मग्रन्थके अनुवादका कार्य प्रारम्भ किया था। अनुवाद ग्रन्थकार श्रीदेवेन्द्र सूरिकी स्वरचित टीकाके आधारपर किया गया है। संस्कृतटीकामें जो विशेष बातें आई हैं, उनका सारांश भावार्थमें दे दिया गया है। आवश्यकतानुसार पं० सुखलालजीरचित गुजराती टबेसे भी सहायता ली गई है। ग्रन्थकारने अपनी संस्कृत टीकामें पहली गाथाके प्रारम्भमें प्रतिपादित बारह विषयोंका बारह द्वारोंके रूपमें विभाजन किया है। अर्थात् जैसे अन्य ग्रंथोंका विभाजन अध्याय, सर्ग, परिच्छेद आदिके रूपमें पाया जाता है वैसे ही इस ग्रन्थका विभाजन बारह द्वारोंके रूपमें किया गया है। किन्तु गुजराती टबेमें १६ प्रकृतियाँ, ४ प्रकारके बन्ध, ४ उनके स्वामी, १ उपशमश्रेणि और १ क्षपकश्रेणि, इस प्रकार ग्रन्थमें प्रतिपादित छब्बीस विषयोंको लेकर छब्बीस द्वार बतलाये हैं। किन्तु मैंने कई बातोंका विचार करके बारह द्वार ही रक्खे हैं—बन्ध और उनके स्वामियोंको पृथक् पृथक् द्वारमें न रखकर एक एक द्वारमें ही रखा है। उचित तो यही था कि ग्रन्थकारके अनुसार बारह ही द्वार रखे जाते, किन्तु प्रारम्भके कुछ भागको द्वारोंमें विभाजित करके शेष बहुभागको बिना द्वारके ही रखना उचित नहीं जान पड़ा। अतः यह अनधिकार चेष्टा करनी पड़ी।

कुछ परिभाषाओं, नामों तथा मान्यताओंको लेकर कर्मविषयक दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें भी मतभेद पाया जाता है। इसके सिवा कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें भी अनेक मान्यताओंके सम्बन्धमें मतभेद है। प्रस्तुत ग्रन्थमें चर्चित विषयोंके सम्बन्धमें इस तरहके जो मतभेद मेरे दृष्टिगोचर हो सके, उन्हें मैंने टिप्पणीमें दे दिया है। आशा है तुलनात्मक अध्ययनके प्रेमियोंके लिये ये टिप्पण रुचिकर होंगे। इस तरहके अन्य

भी अनेक मतभेदोंका मैंने संकलन किया था और इच्छा थी कि उन्हें एक स्वतन्त्र परिशिष्टमें दे दूंगा। किन्तु कुछ गार्हस्थिक झँझटोंमें फँस जानेके कारण मैं अपनी उस इच्छाको पूरा न कर सका।

दिगम्बर साहित्यका अभ्यासी होनेके कारण उसीकी मान्यताएँ, परिभाषाएँ और संज्ञाएँ मेरी स्मृतिमें समाई हुई हैं, फिर भी मैंने अनुवादमें श्वेताम्बर परम्पराका पूरा ध्यान रखनेका भरसक चेष्टाकी है। छापनेसे पहले अहमदाबादके कर्मशास्त्रोंके विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् पं० हीराचन्द्रजी ने इस अनुवादको आद्योपान्त पढ़कर अपने जो सुझाव भेजे थे, उसके अनुसार अनुवादमें संशोधन भी कर दिया गया है। आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित पञ्चम कर्मग्रन्थके प्रथम संस्करणके आधारपर यह अनुवाद किया गया था। बादको नवीन संस्करणके प्रकाशित हो जानेपर उसके आधारसे गाथाओंका संशोधन करके पाठान्तर नीचे टिप्पणमें दे दिये गये हैं।

अन्तमें मैं उन सभी महानुभावोंका आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने किसी भी प्रकारसे इस कार्यमें सहयोग दिया है। सबसे प्रथम मैं हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापक पण्डितवर सुखलाल जीका कृतज्ञ हूं, जिनके सहज स्नेहवश मुझे यह काम हाथमें लेना पड़ा। मुझे इस बातकी भी प्रसन्नता है कि मेरे इस कार्यसे उन्हें सन्तोष हुआ है। और उन्होंने मेरे अनुरोधपर इस पुस्तकका प्राक्कथन लिखनेका भी कष्ट किया है। पं० हीराचन्दजीने पूरे अनुवादको ध्यानपूर्वक पढ़कर जो सुझाव भेजनेका कष्ट किया था, उसके लिये उनका मैं बहुत ही आभारी हूं। हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनागमके अध्यापक पं० दलसुखजी मालवणियाने छपाई वगैरहके सम्बन्धमें मुझे उचित सलाह दी है। स्याद्वाद विद्यालय काशीके न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने प्रेस तथा टाइप वगैरहके चुनावमें क्रियात्मक सहयोग दिया है। अतः उन दोनों विद्वानोंका भी मैं आभारी हूँ। मण्डलके मन्त्री बाबू दयालचन्द्रजी जौहरीके सौजन्यपूर्ण

व्यवहारके लिये भी मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। उन्हींके अध्यवसायसे यह ग्रन्थ वर्तमान रूपमें प्रकाशित हो सका है।

मेरे अनुज प्रा० खुशालचन्द्र एम० ए० साहित्याचार्यने प्रारम्भसे ही प्रूफ संशोधनमें मेरा हाथ बटाया था। किन्तु संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीके आफिस सेक्रेटरीका काम करते हुए उन्हें सरकारने नजरबन्द कर लिया। अत उनकी जेल यात्राके बाद स्याद्वाद विद्यालय काशीके सुयोग्य स्नातक पण्डित अमृतलालजी शास्त्रीसे इस सम्बन्धमें मुझे पूरी सहायता मिली। अत अपने इन दोनों बन्धुओंका भी मैं आभारी हूं।

काशी
पौष कृष्ण एकादशी
वी० नि० सं० २४६८

कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रधानाध्यापक स्याद्वाद दि० जैन
विद्यालय, काशी।

प्रस्तावना

१ कर्मसिद्धान्त

यह ग्रन्थ, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है, कर्मसिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है। अतः कर्मसिद्धान्तके कुछ मुख्य मुख्य मुद्दोंपर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१ कर्मसिद्धान्तका आशय—संसारमें बड़ी विषमता दिखाई देती है। कोई अमीर है कोई गरीब, कोई सुन्दर है कोई कुरूप, कोई बलिष्ठ है कोई कमजोर, कोई बुद्धिमान है कोई मूर्ख। तथा, यदि यह विषमता विभिन्न कुलोंके मनुष्योंमें ही पाई जाती, तब भी एक बात थी। किन्तु एक ही कुलकी तो कौन कहे, एकही माताकी कोखसे जन्म लेनेवाली सन्तानोंमें भी इसका साम्राज्य देखा जाता है। अधिक क्या कहें, पशुयोनि भी इस विषमतासे नहीं बच सकी है। उदाहरणके लिये कुत्तोंको ही ले लीजिये—एक वे कुत्ते हैं जो पेट भरनेके लिये इधर उधर घूमते फिरते हैं, जिन्हें खाज और घाव हो रहे हैं और उसपर भी मार खाते डोलते हैं। दूसरे वे कुत्ते हैं जो पेटभर दूध रोटी खाते हैं, मोटरोंमें बैठकर घूमते हैं और राजकुमारोंकी तरह जिनका लालन-पालन होता है। सारांश यह है कि संसारमें जिधर दृष्टि डालिये उधर ही विषमता दिखाई देती है। इसका क्या कारण है? क्यों एकही माता पितासे जन्म लेनेपर भी एक बुद्धिमान होता है दूसरा मूर्ख, एक स्वस्थ होता है दूसरा रोगी, एक सुन्दर होता है

दूसरा कुरूप?[1] इस विषमताका कारण है प्राणियोंके अपने अपने कर्म। यत सब प्राणियोंके कर्म जुदी जुदी तरहके होते हैं, अत उनका फल भी जुदा जुदा होता है। यही कारण है कि संसारके चराचर प्राणियोंमें इतनी विषमता देखी जाती है। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने रामायणमें लिखा है—

"करम प्रधान विश्वकरि राखा,
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।"

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसाही फल भोगना पड़ता है। मोटे तौरसे यही कर्मसिद्धान्तका आशय है। इस सिद्धान्तको जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक वगैरह आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, किन्तु अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी मानता है। इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इसमें प्राय एकमत हैं।

---

[1] इसके सम्बन्धमें राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेनका निम्न संवाद अवलोकनीय है—"राजा बोला—"भन्ते! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरहके नहीं होते? कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयु वाले, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई भद्दे, कोई बड़े सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई बड़े प्रभाववाले, कोई गरीब, कोई धनी, कोई नीच कुल वाले, कोई ऊँचे कुलवाले, कोई बेवकूफ और कोई होशियार क्यों होते हैं?

स्थविर बोले—' महाराज! क्या कारण है कि सभी वनस्पतियाँ एक जैसी नहीं होती? कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तीती, कोई कड़ुई, कोई कसैली और कोई मीठी क्यों होती है?

भन्ते! मैं समझता हूँ कि बीजोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही वनस्पतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं।

महाराज! इसी तरह सभी मनुष्योंके अपने अपने कर्म भिन्न भिन्न होनेसे वे सभी एकही तरहके नहीं हैं। कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले होते हैं।

महाराज ! भगवानने भी कहा है—हे मानव ! सभी जीव अपने कर्मों से ही फलका भोग करते हैं, सभी जीव अपने कर्मोंके आप मालिक हैं, अपने कर्मोंके अनुसार ही नाना योनियोंमें उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म हीसे ऊँचे और नीचे हुए हैं।" मिलिन्द प्रश्न, पृ० ८० ८१।

न्यायमञ्जरीकार जयन्तने भी यही बात दर्शाई है। यथा—

"तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्रपरायणाः ।
द्रव्यसंग्रहणैकाग्रमनसो मूषिकादयः ॥
मनोभवमयाः केचित् सन्ति पारावतादयः ।
जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादिभेदतः ।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः ॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिणः ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

न्या० मञ्ज०, पृ० ४२ (उत्तरभाग)

अर्थात्—कोई कोई मूषिक वगैरह विशेष लोभी होते हैं, कबूतर वगैरह विशेष कामी देखे जाते हैं। संसारमें कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। खेती नौकरी वगैरह करनेपर भी किसीको विशेष लाभ होता है और किसीको उल्टा नुकसान उठाना पड़ता है। किसीको अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसीपर बैठे बिठाये बिजली गिर पड़ती है। किसीको बिना प्रयत्न किये ही फलप्राप्ति होजाती है और किसीको यत्न करने पर भी फल-

२ कर्मका स्वरूप—उपयुक्त कमसिद्धान्तके बारेमें ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियोंमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फलदानके सम्बन्धमे मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कम कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना वगैरह। परलोकवादी दार्शनिकोंका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कारको नैयायिक[१] और वैशेषिक[२] धम या अधर्मके नामसे पुकारते हैं। योगी[३] उसे कर्माशय कहते हैं, बौद्ध[४] उसे अनुशय आदि नामोंसे पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म जरा मरणरूप संसारके चक्रमें पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वसे संलिप्त हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वके कारण वे संसारके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग द्वेषका अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक काय आत्माके बन्धनका ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दार्शनिकोंके निम्न मन्तव्योंसे स्पष्ट है—

बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्नमें लिखा है—

"(मरनेके बाद) कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं?

जिनमें क्लेश (चित्तका मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण

प्राप्ति नहीं होती। ये सब बातें किसी दृष्टकारणकी वजहसे नहीं होतीं, अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

१ 'स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते।' न्या० मञ्ज० (उत्तरभाग) पृ० ४४।

२ प्रशस्त० कन्दली० पृ० २७२ वगैरह।

३ 'क्लेशमूल कर्माशय ॥ २-१२ ॥ योगद०

४ 'मूल भवस्यानुशय। अभिधर्म० ५-१।

करते हैं और जो क्लेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते।

भन्ते ! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं ?

महाराज यदि संसारकी ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट जायगी तो नहीं करूँगा।" पृ० ३९

और भी–"अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम और रूप, नाम और रूपके होनेसे छ आयतन, छ आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जन्म और जन्मके होनेसे बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दु ख बेचेनी और परेशानी होती है । इस प्रकार इस दु खोंके सिलसिलेका आरम्भ कहासे हुआ इसका पता नहीं।" पृ० ६२ ।

योगदर्शनमें लिखा है–

"वृत्तय पञ्चतय्य क्लिष्टाऽक्लिष्टा "॥ १-५ ॥

"क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूता क्लिष्टाः।" व्या०भा०।

"प्रतिपत्ताऽर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तय क्लिष्टा इति। तत्ववै०।

"तथा जातीयका =क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तिभि संस्कारा संस्कारेभ्यश्च वृत्तय इत्येव वृत्तिसंस्कारचक्र निरन्तरमावर्तते।' भास्वती।

अर्थात्–पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, जो क्लिष्ट भी होती हैं और

अक्लिष्ट भी होता है। जिन वृत्तियोंसे कारण क्लेश होता है और जो कर्मा-शयके संचयके लिये आधारभूत होती हैं उन्हें क्लिष्ट कहते हैं। अर्थात् ज्ञाता अर्थको जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करनेसे कर्मा-शयका संचय करता है। इस प्रकार धर्म और अधर्मको उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लिष्टजातीय अथवा अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियोंके ही द्वारा होते हैं और वृत्तियाँ संस्कार से होती हैं। इस प्रकार वृत्ति और संस्कारका चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिकामें लिखा है—

'सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥६७॥"
"संस्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति।
संस्कारवशात्–कर्मवशादित्यर्थः।" माठ० वृ०।

अर्थात् धर्म और अधर्मको संस्कार कहते हैं। उसीके निमित्तसे शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर धर्मादिक पुनर्जन्म करनेमें समर्थ नहीं रहते। फिर भी संस्कारकी वजहसे पुरुष सशरीर ठहरा रहता है। जैसे, कुम्हारके दण्डका सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कारके वशसे चाक घूमता रहता है। क्योंकि बिना फल दिये संस्कारका क्षय नहीं होता।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय वगैरहको धर्मके और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरहको अधर्मके साधन बतलाकर प्रशस्तपादमें लिखा है—

"अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पा-धर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूप-रिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टाद् धर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अनिष्ट-शरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणाद्

धर्माद् अधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुन पुन संसारबन्धो भवति।" पृ० २८०-२८१।

अर्थात्-राग और द्वेषसे युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कर्मोंके करनेसे ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोकमें अपने आशय-कर्माशयके अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिको प्राप्त करता है। तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कर्मोंके करनेसे प्रेतयोनि तिर्यग्योनि वगैरह स्थानोंमें अनिष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और दु खादिको प्राप्त करता है। इस प्रकार अधर्मसहित प्रवृत्तिमूलक धर्मसे देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंमें (जन्म लेकर) बारम्बार ससारबन्धको करता है।

न्यायमञ्जरीकारने भी इसी मतको व्यक्त करते हुए लिखा है—

'यो ह्ययं देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषु शरीरसर्ग, यश्च प्रतिविषय बुद्धिसर्ग, यश्चात्मना सह मनस ससर्ग, स सर्व प्रवृत्तेरेव परिणामविभव। प्रवृत्तेश्च सर्वस्या क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कार कर्मफलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव × × न च जगति तथाविध किमपि कार्यमस्ति वस्तु यन्न धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्तसम्भवम्।" पृ० ७०।

अर्थात्-देव, मनुष्य और तिर्यग्योनिमें जो शरीरकी उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तुको जाननेके लिये जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, और आत्माका मनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्तिका ही परिणाम है। सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होनेके कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होनेवाला आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्दसे कहा जाता है, कर्मफलके भोगने पर्यन्त स्थित रहता है। ××× संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्मसे व्याप्त न हो।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकोंके उक्त मन्तव्योंसे यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्तिका है और उस प्रवृत्तिके मूलमें राग और द्वेष रहते हैं। तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे संस्कारकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम संसार है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें उक्त मतोंसे भिन्न है।

३ जैनदर्शनानुसार कर्मका स्वरूप—जैनदर्शनके अनुसार कर्मके दो प्रकार होते हैं—एक द्रव्यकर्म और दूसरा भावकर्म। यद्यपि अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका विभाग पाया जाता है और भावकर्मकी तुलना अन्यदर्शनोंके संस्कारके साथ तथा द्रव्यकर्मकी तुलना योगदर्शनकी वृत्ति और न्यायदर्शनकी प्रवृत्तिके साथकी जा सकती है। तथापि जैनदर्शनके कर्म और अन्यदर्शनोंके कर्ममें बहुत अन्तर है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ उसी तरह घुल मिल जाता है, जैसे दूधमें पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ हो गया है क्योंकि जीवके कर्म अर्थात् क्रियाकी वजहसे आकृष्ट होकर वह जीवसे बंध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते हैं, और उस कर्मके क्षणिक होनेपर भी तज्जन्य संस्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका मन्तव्य है कि रागद्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ एक प्रकारका द्रव्य आत्मामें आता है, जो उसके रागद्वेषरूप परिणामोंका निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाता है। कालान्तरमें वही द्रव्य आत्माको

१ 'क्रिया खलु आत्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणाम: पुद्गलोऽपि कर्म।' प्रवचनसार अमृत० टी०, गा० ९५, पृ० १६५।

शुभ या अशुभ फल देता है । इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैनदर्शन छ द्रव्य मानता है—जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । अपने चारों ओर जो कुछ हम चर्मचक्षुओंसे देखते हैं सब पुद्‌गल द्रव्य है । यह पुद्‌गल द्रव्य २३ तरहकी वर्गणाओंमें विभक्त है । उन वर्गणाओंमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसारमें व्याप्त है । यह कार्मण वर्गणा ही जीवोंके कर्मोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है । जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥९५॥" प्रवचनसार

अर्थात्—जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिरूपसे उसमें प्रवेश करता है ।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तके अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है ।

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक । ऐसी दशामें उन दोनोंका बन्ध ही सम्भव नहीं है । क्योंकि मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कदापि सम्भव नहीं है । ऐसी आशङ्का की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

---

१ "उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥ ८२ ॥ पञ्चास्ति०

अर्थात् इन्द्रियसे हम जो कुछ भोगते हैं वह सब तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, द्रव्यकर्म और भी जो कुछ मूर्त पदार्थ हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये ।

२ इन वर्गणाओंका स्वरूप जाननेके लिये इसी पञ्चमकर्मग्रन्थकी गा० ७५-७६की टीका देखनी चाहिये ।

अन्य दर्शनोंकी तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्मके सम्बन्धके प्रवाहको अनादि मानता है। किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था, बादको उसके साथ कर्मोंका बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस मान्यतामें अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। पञ्चास्तिकायमें जीव और कर्मके इस अनादि सम्बन्धको जीवपुद्गलकर्मचक्रके नामसे अभिहित करते हुए लिखा है—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी॥ १२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥"

अर्थ—जो जीव संसारमें स्थित है अर्थात् जन्म और मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर होता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करता है। विषयोंके ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके भावोंसे कर्म और कर्मसे भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोंसे बँधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मोंसे बँधा है, तब उसके जो नये कर्म बँधते हैं, वे कर्म जीवमें स्थित मूर्तिक कर्मोंके साथ ही बँधते हैं, क्योंकि मूर्तिकका मूर्तिकके साथ संयोग होता है और मूर्तिकका मूर्तिकके साथ बन्ध होता है। अतः आत्मामें स्थित पुरातन कर्मोंके साथ ही नये कर्म बन्धको प्राप्त होते रहते हैं। इस

प्रकार परम्परासे कथञ्चित् मूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक कर्मद्रव्यका सम्बन्ध जानना चाहिये।

साराश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य संस्कारको कर्म कहते है, किन्तु जैनदर्शन आत्मासे सम्बद्ध मूर्तिकद्रव्य और उसके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषरूप भावोंको कर्म कहता है।

४ कर्मोंका कर्ता भोक्ता कौन—सांख्यके सिवाय प्रायः सभी वैदिकदर्शन किसी न किसी रूपसे आत्माको ही कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता कहते हैं। किन्तु सांख्य भोक्ता तो पुरुषको ही मानता है, किन्तु कर्ता प्रधानको कहता है। जैनदर्शनमें वस्तुका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया जाता है, एक दृष्टि निश्चयनय कही जाती है और दूसरी व्यवहारनय।

जो परनिमित्तके बिना वस्तुके असली स्वरूपका कथन करता है, उसे निश्चयनय कहते हैं और परनिमित्तकी अपेक्षासे जो वस्तुका कथन करता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैनधर्ममें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका विचार भी इन्हीं दोनों नयोंसे किया गया है।

हम पहले बतला आये हैं कि जैनधर्ममें कर्म केवल जीवके द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मोंका नाम नहीं है, किन्तु जीवके कार्मोंके निमित्तसे जो पुद्गलपरमाणु आकृष्ट होकर उस जीवसे बंधको प्राप्त हो जाते हैं, वे पुद्गल-परमाणु कर्म कहे जाते हैं। तथा उन पुद्गलपरमाणुओंके फलोन्मुख होनेपर उनके निमित्तसे जीवमें जो काम-क्रोधादिक भाव होते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं। पहले प्रकारके कर्मोंको द्रव्यकर्म और दूसरे प्रकारके कर्मोंको भावकर्म कहते हैं। जीवके साथ इनका अनादि सम्बन्ध है। इन कर्मोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके बारेमें जब हम निश्चयदृष्टिसे विचार करते हैं तो जीव न तो द्रव्यकर्मोंका कर्ता ही प्रमाणित होता है और न उनके फलका भोक्ता ही प्रमाणित होता है, क्योंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं, पुद्गलद्रव्यके विकार हैं, अतः पर हैं। उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है? चेतनका

कर्म चैतन्यरूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतनरूप। यदि चेतनका कर्म भी अचेतनरूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद नष्ट होकर महान् संकर दोष उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है। जैसे जल स्वभावतः शीतल होता है, किन्तु अग्निका सम्बन्ध होनेसे उष्ण हो जाता है। यहाँपर इस उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आगई है, अतः आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं, उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, जीव तो अपने भावोंका कर्ता है। जैसे सांख्यके मतमें पुरुषके संयोगसे प्रकृतिका कर्तृत्व गुण व्यक्त हो जाता है और वह सृष्टिप्रक्रियाकी उत्पत्ति करना शुरू कर देती है, तथापि पुरुष अकर्ता ही कहा जाता है, उसीतरह जीवके रागद्वेषादिक अशुद्ध भावोंका सहारा पाकर पुद्गलद्रव्य उसकी ओर स्वतः आकृष्ट होता है। उसमें आत्माका कर्तृत्व ही क्या है? जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कायदेसे जा रहा हो, और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है? कर्ता तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। इसीतरह—

> "जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोऽवि परिणमदि ॥ ८६ ॥
> ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हंपि ॥ ८७ ॥
> एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएणभावेण।
> पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥"

समयप्राभृत

'जीव तो अपने रागद्वेषादिरूप भावोंको करता है, किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गलद्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादिरूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिककर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं, तथापि न तो जीव पुद्गलकर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गलकर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावों का कर्ता नहीं है।'

सांख्यके दृष्टान्तसे सम्भवतः पाठकोंको यह भ्रम हो सकता है कि जैनधर्म भी सांख्यकी तरह जीवको सर्वथा अकर्ता और प्रकृतिकी तरह पुद्गलको ही कर्ता मानता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। सांख्यका पुरुष तो सर्वथा अकर्ता है, किन्तु जैनोंका आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, वह अपनी आत्मा के स्वाभाविकभाव ज्ञान, दर्शन, सुख वगैरह और वैभाविकभाव राग, द्वेष, काम मोहादिकका कर्ता है, किन्तु उनके निमित्तसे जो पुद्गलोंमें कर्मरूप परिणमन होता है, उसका वह कर्ता नहीं है। सारांश यह है कि वास्तवमें उपादान कारणको ही किसी वस्तुका कर्ता कहा जा सकता है, निमित्त कारणमें जो कर्तापनेका व्यवहार किया जाता है वह व्यावहारिक-लौकिक है, वास्तविक नहीं है। वास्तविक कर्ता तो वही है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। इस दृष्टिसे घटका कर्ता मृत्तिका ही है, न कि कुम्भकार। कुम्भकारको जो लोकमें घटका कर्ता कहा जाता है, उसमें केवल इतना ही तात्पर्य है कि घटपर्यायमें निमित्त कुम्भकार है। वास्तवमें तो घट मृत्तिकाका ही एक भाव है, अतः उसका कर्ता भी वही है।

जो बात कर्तृत्वके बारेमें कही गई है, वही बात भोक्तृत्वके बारेमें भी जाननी चाहिये। जो जिसका कर्ता ही नहीं वह उसका भोक्ता कैसे हो

सकता है। अतः आत्मा जब पुद्गलकर्मोंका कर्ता ही नहीं, तो उनका भोक्ता भी नहीं हो सकता। वह अपने जिन राग द्वेषरूप भावोंका कर्ता है, व्यवहार दशामें उन्हींका भोक्ता है। जैसे व्यवहारमें कुम्भकारको घड़का भोक्ता कहते हैं, क्योंकि घड़को बेचकर वह जो कुछ कमाता है, उससे अपने शरीर और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है। किन्तु वास्तवमें तो कुम्भकार अपने भावों का ही भोक्ता है। उसीतरह आत्मा भी व्यवहारसे स्वकृतकर्मोंके फलस्वरूप मिलनेवाले सुख दुःखादिका भोक्ता कहा जाता है, वास्तवमें तो वह अपने चैतन्यभावोंका ही भोक्ता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्वके बारेमें दृष्टि-भेदसे जैनधर्मकी द्विविध व्यवस्था है।

५ कर्म अपना फल कैसे देते हैं—ईश्वरको जगतका नियन्ता माननेवाले वैदिकदर्शन जीवको कर्मकरनेमें स्वतन्त्र किन्तु उसका फल भोगनेमें परतन्त्र मानते हैं। जैसाकि महाभारतमें लिखा है—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात्—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःखका स्वामी नहीं है। ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरकमें जाता है।

भगवद्गीतामें भी लिखा है—

'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।' ७-२२॥

'मैं जिसका निश्चय करदेता हूँ वही इच्छित फल मनुष्यको मिलता है।'

इस प्रकार कर्मोंका फल ईश्वराधीन होनेपर भी फलका निर्णय प्राणिया के अच्छे बुरे कर्मके अनुरूप ही किया जाता है। जैसा कि भगवद्गीतामें लिखा है—

"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।" ५-१५।

१ न० सू० ३२३८।

अथात्—परमेश्वर न तो किसीके पापको लेता है और न पुण्यको, अर्थात् प्राणिमात्रको अपने कर्मानुसार सुख दु ख भोगने पड़ते हैं ।

इस प्रकार जो सारी सृष्टिका सचालक परमेश्वरको मानते हैं, उनके मतसे कर्मफलका देनेवाला परमेश्वरसे भिन्न कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है ? किंतु जैन दर्शन ईश्वरको सृष्टिका नियन्ता नहीं मानता अत कर्म-फल देनेमें भी उसका हाथ होही कैसे सकता है ? ऐसी दशामें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि तब कर्मफल कौन देता है ? अचेतन कर्मोंमें स्वय तो यह शक्ति हो नहीं सकती, कि वे अपना अच्छा या बुरा फल स्वय दे सकें । उसके लिये तो कोई बुद्धिमान चेतन ही होना चाहिये ।

जैन दर्शन कहता है कि कर्म अपना फल स्वय देते हैं, उसके लिये किसी अन्य न्यायाधीशकी आवश्यकता नहीं है । जैसे, शराब नशा करती है और दूध पुष्टि करता है । जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीरमें पुष्टता आती है । शराब या दूध पीनेके बाद यह आवश्यकता नहीं होती, कि उसका फल देनेके लिये कोई दूसरा नियामक शक्तिमान हो । उसीतरह जीवके प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्दके साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते हैं और राग द्वेषका निमित्त पाकर उससे बँध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओंमें भी शराब और दूधकी तरह अच्छाई या बुराई करनेकी शक्ति रहती है, जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर उसपर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक या दु खदायक होते हैं । यदि कर्म करते समय जीवके भाव अच्छे होते हैं तो बधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तरमें उससे अच्छा ही फल मिलता है । तथा यदि बुरे भाव होते है तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तरमें उसका फल भी बुरा ही मिलता है । मानसिक भावोंका अचेतन वस्तुके ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है

और उस प्रभावकी वजहसे उस अचेतनका परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है, इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिए हमें डाक्टरी और वैद्यीक भोजन सम्बन्धी नियमोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमें किसी तरहका क्षोभ नहीं होना चाहिये भोजन करनेसे आधा घंटा पहलेसे लेकर भोजन करनेके आधा घंटा बाद तक मनमें कोई अशान्ति कारक विचार न आना चाहिये। ऐसी दशामें जो भोजन किया जाता है उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकार-कारक नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत यदि काम क्रोधादि भावोंकी दशामें भोजन किया जाये तो उसका परिपाक ठीक नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि कर्ताके भावोंका असर अचेतन पर पड़ता है और उसीके अनुसार उसका विपाक होता है। अत जीवका कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल भोगनेमें परतन्त्र माननेकी आवश्यकता नहीं है।

यदि ईश्वरको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातकका दोषको मानना नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वालेको मृत्युका दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषोंके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते, क्योंकि वे राजाज्ञाका पालन करते हैं। उसी तरह किसीका घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगताता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मोंकी यही सजा निधारी होगी, तभी तो उसका वध किया गया। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अत घातकका कार्य ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छाका परिणाम है। तो कहना होगा कि संसार दशामें कोई भी प्राणी वस्तुत स्वतन्त्र नहीं है, सभी अपने अपने कर्मोंसे बंधे हुए हैं। जैसा कि महाभारतमें भी लिखा है—'कर्मणा बध्यते जन्तु' अर्थात् प्राणी कर्मसे बंधता है। और कर्मकी परम्परा अनादि है ऐसी परिस्थितिमें

'बुद्धि कर्मानुसारिणी' अर्थात् 'कर्मके अनुसार प्राणीकी बुद्धि होती है' न्यायके अनुसार किसी भी कामको करने या न करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। शायद कहा जाये कि ऐसा दशामें तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि जीव कर्मसे बधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अत अच्छे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको सन्मार्गकी ओर ले जाती है और बुरे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको कुमार्गकी ओर ले जाती है। सन्मार्गपर चलनेसे मुक्तिलाभ और कुमार्गपर चलनेसे भ्रमण होता है। अत बुद्धिके कर्मानुसारिणी होनेसे मुक्तिलाभमें कोई बाधा नहीं आती। अस्तु,

जब उक्त प्रकारसे कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र नहीं हैं तो घातकका घातनरूप कर्म उसकी किसी दुर्बुद्धिका ही परिणाम होना चाहिये। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत् कर्मका फल होना चाहिये। किन्तु जब हम कर्मका फल ईश्वराधीन मानते हैं तो उसका उत्पादक ईश्वरको ही कहा जायगा। यदि हम ईश्वरको फलदाता न मानकर जीवके कर्मोमें ही स्वत फलदानकी शक्ति मान लें, जैसाकि हम पहले बतला आये हैं तो उक्त समस्याएं आसानीसे हल हो जाती हैं क्योंकि मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारके संस्कार डाल देते हैं जिससे वह गोधम आकर हत्या तक कर बैठता है। किन्तु जब हम ईश्वरको फलदाता मानते हैं तो हमारी विचारशक्ति कहती है कि किसी विचारशील फलदाताको किसी व्यक्तिके खोटे कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमें हो, न कि दूसराको उसके द्वारा सजा दिलवानेके रूपमें हो। उक्त घटनामें ईश्वर घातकसे दूसरेका घात कराता है, क्योंकि उसे उसके जरिये दूसरेको सजा दिलवानी है। किन्तु घातकको जिस दुर्बुद्धिके कारण वह परका घात करता है उस

बुद्धिको दुष्ट करनेवाले कर्मोंका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेको सजा भोगनी पड़ी। अत ईश्वरको कर्मफलदाता माननेमें इसी तरह अन्य भी कई एक अनुपपत्तियाँ खड़ी होती हैं। जिनमेंसे एक इस प्रकार है—किसी कर्मका फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसीका कुछ माह बाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसीका जन्मान्तरमें मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्मफलके उपभोगमें यह समयकी विषमता क्यों देखी जाती है ? ईश्वरेच्छाके सिवाय इसका कोई सन्तोषकारक समाधान ईश्वरवादियोंकी ओरसे नहीं मिलता। किन्तु कर्ममें ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोंका बुद्धिगम्य उत्तर देता है जैसाकि हम आगे बतलायेंगे। अत ईश्वरको फलदाता मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

६ कर्मके भेद कर्मके भेद शास्त्रकारोंने दो दृष्टियोंसे किये हैं—एक विपाककी दृष्टिसे और दूसरे विपाककालकी दृष्टिसे। कर्मका फल किस किस रूप होता है और कब होता है प्राय इन्हीं दोनों बातोंको लेकर भेद किये गये हैं। कर्मके भेदोंका साधारणतया उल्लेख तो प्राय सभी दर्शनकारोंने किया है किन्तु जैनेतर दर्शनोंमेंसे योगदर्शन और बौद्ध-दर्शनमें ही कर्माशय और उसके विपाकका कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है और विपाक तथा विपाककालकी दृष्टिसे कुछ भेद भी गिनाये हैं। परन्तु जैनदर्शनमें उसके भेद प्रभेदों और विविध दशाओंका बहुत ही विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाया जाता है। तथा, जैनदर्शनमें कर्मोंके भेद तो विपाककी दृष्टिसे ही गिनाये हैं किन्तु विपाकके होने, न होने, अमुक समयमें होने वगैरहकी दृष्टिसे जो भेद हो सकते हैं उन्हें कर्मोंकी विविध दशाके नामसे चित्रित किया है। अर्थात् कर्मके अमुक अमुक भेद हैं और उनकी अमुक अमुक अवस्थाएँ होती हैं। अन्य दर्शनोंमें इस तरहका श्रेणिविभाग नहीं पाया जाता, जैसा कि नीचेके वर्णनसे स्पष्ट है।

कर्मके दो भेद तो सभी जानते और मानते हैं—एक अच्छा कर्म और दूसरा बुरा कर्म। इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारोंने शुभ अशुभ, पुण्य पाप, कुशल अकुशल, शुक्ल कृष्ण आदि नामोंसे कहा है। इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारोंने विभिन्न दृष्टियोंसे कर्मके विभिन्न भेद किये हैं। गीतामें[1] सात्त्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं। जो उक्त भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। साधारणतया फलदानकी दृष्टिसे कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं, किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या पूर्व जन्ममें, वह सब सञ्चित कहा जाता है। इसी सञ्चितका दूसरा नाम अदृष्ट और मीमांसकोंकी परिभाषामें अपूर्व भी है। इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह दृश्य रहती है। उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती, किन्तु उसके सूक्ष्म अत एव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं। उन सब संचित कर्मोंको एक दम भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामोंमेंसे कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकारके फल देने वाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई सञ्चित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं। इस लिये इन दोनों कर्मोंको एकदम भोगना असम्भव है। अत एव सञ्चितमें से जितने कर्मोंके फलोंको भोगना पहले शुरू होता है उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने गीतारहस्यमें क्रियमाण भेद को ठीक नहीं माना है। वे लिखते हैं—"क्रियमाण[2] का अर्थ है—जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है। परन्तु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है। अत

१ अध्याय १८। २ पृ० २७२।

एव क्रियमाण को कर्म का तीसरा भेद माननेके लिये हमें कोइ कारण नहीं देख पडता।'

वेदान्त सूत्र में (४-१-१५) कर्मके प्रारब्ध कार्य और अनारब्धकार्य ये दो भेद किये हैं। तिलक जी इन्हें ही उचित समझते हैं।

योगदर्शन में कर्माशयके दो भेद किये हैं एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्ट जन्मवेदनीय। जिस जन्ममें कर्म का संचय किया गया है उसी जन्ममें यदि वह फल देता है तो उसे दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं, और यदि दूसरे जन्ममें फल देता है तो उसे अदृष्ट जन्मवेदनीय कहते हैं। दोनोंमेंसे प्रत्येकके दो भेद और भी हैं--एक नियतविपाक और दूसरा अनियत विपाक। बौद्ध दर्शनमें कर्मके भेद कई प्रकारसे गिनाये हैं। यथा--सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय और न दुःख सुखवेदनीय, तथा कुशल, अकुशल और अव्याकृत। दोनों का आशय एक ही है--जो सुख का अनुभव करावे, जो दुःख का अनुभव करावे और जो न दुःख का और न सुख का अनुभव करावे। प्रथम तीन भेदोंके भी दो भेद हैं--एक नियत और दूसरा अनियत। नियतके तीन भेद हैं--दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय और अपरपर्याय वेदनीय। अनियतके दो भेद हैं--विपाककाल अनियत और अनियत विपाक। दृष्टधर्मवेदनीयके दो भेद हैं--सहसावेदनीय और असहसावेदनीय। शेष भेदोंके भी चार भेद हैं--विपाककालनियत विपाकानियत, विपाकनियत विपाककाल अनियत, नियतविपाक नियतवेदनीय और अनियतविपाक अनियतवेदनीय।

हम पहले बतला आये हैं कि जैन दर्शनमें कर्मसे आशय जीवकी क्रियाके साथ जीवकी ओर आकृष्ट होने वाले कर्मपरमाणुओंसे है। वे कर्मपरमाणु जीवकी प्रत्येक क्रियाके समय जिसे जैनदर्शनमें योगके नामसे कहा जाता है, आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्माके राग, द्वेष,

---

१, २-१२। २ अभिधर्म० (कर्मनिर्देश)

मोह आदि भावो का, जिन्हें जैन दर्शनमें कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर आत्मासे बध जाते हैं। इस तरह कर्मपरमाणुओ को आत्मा तक लाने का काम योग अर्थात् जीव का कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया करती है और उसके साथ बन्ध करानेका काम कषाय अर्थात आत्माके राग द्वेष रूप भाव करते हैं। साराश यह है कि आत्मा की योगशक्ति और कषाय, ये दोनो ही बन्धके कारण हैं। यदि आत्मामे कषाय नष्ट हो जाये तो योगके रहने तक कर्म परमाणुओं का आस्रव—आगमन तो अवश्य होगा किन्तु कषायके न होनेके कारण वे वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। दृष्टान्तके तौर पर, योग को वायु की, कषायको गोंद की, आत्मा को एक दीवार की और कर्मपरमाणु को धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवार पर गोंद वगैरह लगी हो तो वायुके साथ उडने वाली धूल दीवार पर आकर चिपक जाती है। यदि दीवार साफ चिकनी और सूखी हो ता वायुके साथ उड़कर आनेवाली धूल दीवार पर न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है। यहाँ धूल का कम या अधिक परिमाणमें उड़ना वायुके वेग पर निर्भर करता है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी खूब उड़ती है और वायु धीमी होती है तो धूल कम उड़ती है। तथा दीवार पर धूल का कम या अधिक दिनों तक चिपके रहना उस पर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओं की चिपचाहट की कमो-बेशी पर निर्भर करता है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो तो उस पर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है, यदि किसी पेड़ का दूध लगा हो तो कुछ देरमें झड़ती है और यदि कोई गाद लगी हो तो बहुत दिनोमें झड़ती है। यही बात योग और कषायके बारेमें भी जाननी चाहिये। योग शक्ति जिस दर्जे की होती है आकृष्ट होने वाले कर्मपरमाणुओ का परिमाण भी उसीके अनुसार कमती बढ़ती हुआ करता है। यदि योग शक्ति उत्कृष्ट होती है तो कर्मपरमाणु भी अधिक सख्यामें आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। यदि योगशक्ति जघन्य या मध्यम दर्जे की होती है तो कर्मपरमाणु भी कम या

कुछ अधिक परिमाणमें आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। इसी तरह कषाय यदि तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु आत्माके साथ अधिक दिनों तक बँधे रहते हैं और फल भी तीव्र देते हैं। तथा यदि कषाय हल्की होती है तो कर्मपरमाणु कम समय तक आत्मासे बंधे रहते हैं और फल भी कम देते हैं। यह एक साधारण नियम है। इसमें कुछ अपवाद भी हैं। अस्तु,

इस प्रकार योग और कषायसे आत्माके साथ कर्मपरमाणुओंका बन्ध होता है। वह बन्ध चार प्रकारका होता है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। स्वभावको प्रकृति कहते हैं। बँधनेवाले कर्म परमाणुओंकी संख्याको प्रदेश कहते हैं। तथा कालकी मर्यादाको स्थिति और फलदान शक्तिको अनुभाग कहते हैं। आत्माकी ओर आकृष्ट होनेवाले कर्मोंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्याका हीन या अधिक होना, ये दो काम योगपर निर्भर हैं। तथा उन्हीं कर्मपरमाणुओंका आत्मा के साथ कम या अधिक कालतक ठहरे रहना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्तिका पड़ना, ये दो काम कषाय करता है। इसतरह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। इन बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण आत्माके ज्ञान-गुणका घात करता है। इसीकी वजहसे कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी देखे जाते हैं। दर्शनावरण आत्माके दर्शनगुणका घातता है। आवरण यानी ढाँकनेवाली वस्तु, अर्थात् वह चीज जो ज्ञान या दर्शनको ढँकती है, उन्हें प्रकट नहीं होने देती। वेदनीय, जो सुख या दुःखका वेदन अनुभवन कराता है। मोहनीय, जो आत्माको मोहित करता है, उसे सच्चे मार्गका भान नहीं होने देता, तथा सच्चे मार्गका भान हो जानेपर भी उसपर चलने नहीं देता। आयु, जो अमुक समयतक जीवको किसी एक शरीरमें रोके रहता है। इसके छिद जानेपर ही जीवकी मृत्यु कही जाती है। नाम, जिसकी वजहसे अच्छ

या बुरे शरीर, अङ्ग-उपाङ्ग वगैरहकी रचना होती है। गोत्र, जिसकी वजहसे जीव ऊँचे कुलका या नीच कुलका कहा जाता है। अन्तराय, जिसकी वजहसे इच्छितवस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न पड़ता है। इन आठ भेदोंमेंसे, जिन्हें आठ कर्म कहते हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहे जाते हैं, क्योंकि ये चारों आत्माके गुणोंका घात करते हैं। शेष चार कर्म अघाती कहे जाते हैं, क्योंकि वे आत्माके गुणोंका घात नहीं करते। इन आठ कर्मोंमेंसे भी ज्ञानावरणके पाँच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके तिरानवे, गोत्रके दो और अन्तरायके पाँच भेद हैं। घातीकर्मोंमें भी दो विभाग हैं—देशघाती और सर्वघाती। जो कर्म आत्मगुणके एक देशका घात करता है वह देशघाती है और जो उसका पूरी तरहसे घात करता है, वह सर्वघाती है। चार कर्मोंके ४७ भेदोंमेंसे २६ देशघाती हैं और २१ सर्वघाती हैं। घातिकर्म तो पापकर्म ही कहे जाते हैं, किन्तु अघातिकर्मके भेदोंमेंसे कुछ पुण्यकर्म हैं और कुछ पापकर्म, जो कि अनुवादमें गिनाये हैं।[1] जैसे, मनुष्यके द्वारा खाया हुआ भोजन पाकस्थलीमें जाकर रस, मज्जा, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाता है, उसीतरह आत्माके द्वारा ग्रहण किये गये परमाणु भी ज्ञानावरणादि रूप परिणत हो जाते हैं, और उनका बँटवारा बँधनेवाले सब कर्मोंमें होता जाता है। जीव किस प्रकारके योगके द्वारा कैसे कर्मोंको कब बाँधता है और उनका बटवारा कैसे होता है,[2] तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका क्या नियम है, इत्यादि बातें इस पञ्चम कर्मग्रन्थके अन्दर बताई हैं, अतः उनके पिष्टपेषणकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

जैनदर्शनमें वर्णित कर्मके इन भेदोंकी तुलनाके योग्य कोई भेद इतर-

---

१ इन सभी भेदोंका स्वरूप जाननेके लिये इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित प्रथमकर्मग्रन्थको देखना चाहिये। २ देखो गाथा ७९ ८७।

दर्शनोंमें वर्णित पूर्वोक्त भेदोंमें नहीं पाया जाता। योगदर्शनमें कर्मका विपाक तीन रूपसे बतलाया है—जन्मके रूपमें, आयुके रूपमें और भोगके रूपमें। किन्तु अमुक कर्माशय आयुके रूपमें अपना फल देता है, अमुक कर्माशय जन्मके रूपमें अपना फल देता है और अमुक कर्माशय भोगके रूपमें अपना फल देता है, यह बात वहाँ नहीं बतलाई है। यदि यह भी वहाँ बतलाया गया होता तो योगदर्शनके आयुविपाकवाले कर्माशयकी जैनदर्शनके आयुकर्मसे और जन्मविपाकवाले कर्माशयकी नामकर्मसे तुलना की जा सकती थी। किन्तु वहाँ तो सभी कर्माशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं। जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है वह केवल दो ही रूप फल देता है, जन्मान्तरमें न जानेसे उसका विपाक जन्मरूपसे नहीं होता। हम पहले ही लिख आये हैं कि इस तरहका श्रेणिविभाग इतर दर्शनोंमें नहीं पाया जाता। इतर दर्शनोंमें वर्णित कर्मके जो भेद पहले गिनाये हैं, जैनदृष्टिसे वे कर्मोंकी विविध दशाएँ हैं, जैसा कि आगेके वर्णनसे स्पष्ट है।

कर्मोंकी विविध दशाएँ—जैन सिद्धान्तमें कर्मोंकी दस मुख्य अवस्थाएँ अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई हैं, जिन्हें करण कहते हैं। उनके नाम—बन्ध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना हैं। कर्मपरमाणुओंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेको बन्ध कहते हैं। यह सबसे पहली अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था हो ही नहीं सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। अर्थात् जब कर्मपरमाणु आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं तो उनमें आत्माके योग और कषाय रूप भावोंसे चार बातें होती हैं। प्रथम तुरन्त ही उनमें ज्ञानादिकको घातने या रोकनेका स्वभाव पड़ जाता है, दूसरे उनकी स्थिति भी बँध जाती है कि ये अमुक समयतक आत्माके साथ बंधे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल

१ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २।१३ ॥" योगद०

देनेकी शक्ति पड़ जाती है। चौथे वे नियत परिमाणमें आत्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसा कि पहले स्पष्टरूपसे बतलाया है। दूसरी अवस्था या क्रिया उद्वर्तना है। स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उद्वर्तना कहते हैं। तीसरी अवस्था अपवर्तना उससे ठीक उल्टी है। अर्थात् स्थिति और अनुभाग का घटना अपवर्तना कहा जाता है। बन्धके बाद ये दोनो क्रियाएं होती हैं। किसी अशुभ कर्मका बन्ध करनेके बाद यदि जीव अच्छे काम करता है तो उसके पहले बाँधे हुए बुरे कर्मकी स्थिति और फलदानशक्ति घट सकती है। जैसे, राजा श्रेणिकने मुनिके गलेमे मरा हुआ साँप डाला तो उस समय इस बुरे कामके निमित्तसे उसने सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था। किंतु बादको जब उसे अपने उक्त कामपर पश्चात्ताप हुआ और उसने भगवान महावीरके समवशरणमें क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया तो शुभ परिणामोंके प्रभावसे उसकी बाँधी हुई आयु घटकर पहले नरककी ही रह गई थी। यह सब अपवर्तनाकरणका ही काम है। इसीतरह अशुभकर्मकी जघन्य स्थिति बाँधकर यदि कोई और भी बुरे काम करने लगे तथा उसके परिणाम पहलेसे भी अधिक कलुषित हो जावें तो बँधे हुए कर्मकी स्थिति और फल-दानशक्ति बुरे भावोंका असर पाकर बढ़ सकती है। इस उद्वर्तना और अपवर्तनाके कारण कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देरमें। किसीका तीव्र फल होता है और किसीका मन्द।

बंधनेके बाद कर्म तुरन्त ही अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है, इसका कारण यह है कि बंधनेके बाद कर्म अस्तित्व रूपमें रहता है। जैसे शराब पीते ही अपना असर नहीं करती किन्तु कुछ देर बाद अपना असर करती है। उसीतरह कर्म भी बंधनेके बाद कुछ समयतक सत्तारूपमें रहता है। इस कालको जैन परिभाषामें अबाधाकाल कहते हैं और यह कर्मकी स्थितिपर निर्भर है। एक कोटी-कोटी सागरकी स्थितिमें एक सौ वर्षप्रमाण अबाधाकाल होता है। अर्थात् यदि किसी कर्मकी

स्थिति एक करोड़-करोड़ सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्षके बाद अपना फल देना प्रारम्भ करता है। और तबतक फल देता रहता है, जबतक उसकी स्थिति पूरी न हो। आयुकर्मकी अबाधाके नियममें कुछ अपवाद हैं, जिनका विवेचन इसी ग्रन्थके अनुवादमें किया है। इसप्रकार बँधनेके बाद कर्मके फल न देकर मौजूद रहने मात्रको सत्ता कहते हैं। और कर्मके फल देनेको उदय कहते हैं। यह उदय दो तरहका होता है—एक फलोदय दूसरा प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय या विपाकोदय कहा जाता है, किन्तु जब कर्म उदयमें आकर भी बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं। फलोदय की उपमा सवस्त्र युवतीसे और प्रदेशोदयकी उपमा विवस्त्र युवतीसे दी जा सकती है।

बौद्ध दर्शनमें कर्मके भेद बतलाते हुए कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका विपाककाल नियत है और कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका विपाककाल नियत नहीं है। जैन दर्शनमें भी नियतकालमें कर्मके फल देनेको उदय कहा जाता है और नियतकालसे पहले अर्थात् अनियतकालमें कर्मके फल देनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे, आमके मौसिममें आम बेचनेवाले आमोंको जल्दी पकानेके लिए पेड़से तोड़कर भूसे वगैरहमें दबा देते हैं जिससे वे आम दूसरी अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसीतरह कर्मका भी कभी कभी नियत समयसे पहले विपाक हो जाता है। यही विपाक उदीरणा कहा जाता है। इस उदीरणाके लिए पहले अपवर्तनाकरणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। स्थिति घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब कोई आदमी पूरी आयु भोगे बिना असमयमें ही मर जाता है तो उसको लोकमें अकालमृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुकर्मकी उदीरणाका हो जाना ही है। अपवर्तना हुए बिना उदीरणा नहीं हो सकती।

एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको संक्रमणकरण कहते हैं। यह संक्रमण कर्मके मूल भेदोंमें नहीं होता है। अर्थात् पहले गिनाये हुए कर्मोंके आठ भेदोंमेंसे एक कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप नहीं हो सकता और न दर्शनावरण ज्ञानावरणरूप हो सकता है। यही बात अन्य कर्मोंके बारेमें भी जाननी चाहिये। किन्तु एक कर्मके अवान्तर भेदोंमेंसे एक भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीयकर्मके दो भेद—सातवेदनीय और असातवेदनीयका परस्परमें संक्रमण हो सकता है। सातवेदनीय असातवेदनीयरूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीय हो सकता है। यद्यपि संक्रमण सजातीय प्रकृतियोंमें ही होता है, किन्तु आयुकर्म इसका अपवाद है। चार आयुकर्मोंमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता। नरककी आयु बाँध लेनेपर जीव को नरकमें ही जाना होता है, वह किसी अन्य गतिमें नहीं जा सकता।

कर्म को उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना, इन चारों ही क्रियाओंके अयोग्य कर देने को उपशमन अवस्था कहते हैं। कर्म को उद्वर्तन और अपवर्तनके सिवाय शेष करणोंके अयोग्य करदेने को निधत्ति कहते हैं और समस्त करणोंके अयोग्य कर देने को निकाचना कहते हैं।

इतर दर्शनोंमेंसे केवल योगदर्शन (व्यास भाष्य) में ही हमें कर्मों की कुछ अवस्थाओं का वर्णन मिला है। भाष्यकारने अदृष्ट जन्म-

१ दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इन तीनों करणोंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

"उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं।

उवसंतं च णिधत्ति णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥४४०॥" कर्मकाण्ड

अर्थात् कर्मका उदयमें आनेके अयोग्य होना उपशम है। उसमें संक्रमण और उदयका न हो सकना निधत्ति है। और उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदय, चारों का ही न हो सकना निकाचित है।

२ "यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः-कृत

वेदनाय अनियतविपाक कर्म की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—१ किये हुए कर्मका बिना विपाक हुए ही नष्ट हो जाना, २ प्रधान कर्ममें आवापगमन ३ और नियत विपाक वाले प्रधान कर्मके द्वारा अभिभूत होकर बहुत काल तक बने रहना। साधारण तौरसे इनमेंसे दूसरी अवस्थाको संक्रमणकरण और तीसरीको निधत्ति वगैरह कहा जा सकता है। योगदर्शनमें ही कर्माशयके मूल कारण क्लेश की भी चार अवस्थाएं बतलाई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। जैन सिद्धान्तके अनुसार ये क्लेश मोहकर्मसे पृथक वस्तु नहीं हैं अतः ये चारों अवस्थाएँ भी प्रकारान्तरसे कर्मकी ही अवस्थाएँ समझनी चाहिये। जिनमेंसे कर्मका बंध होनेके बाद जब तक उसका उदय नहीं होता तब तक की अवस्था को प्रसुप्त कहा जा सकता है। कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम उसकी तनुत्व अवस्था है। अपनी किसी विरोधी प्रकृतिके उदय वगैरहके कारण किसी कर्म प्रकृतिके उदयका रुक जाना विच्छिन्न अवस्था है। उदय उदार अवस्था है। कर्मके होने वाली ये दस अवस्थाएँ मुख्य हैं। इनमेंसे बंध, उदय और सत्ताके ध्रुव अध्रुव और सान्तर निरन्तर वगैरह भेदकी अपेक्षासे अन्य भेद भी होते हैं जो इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वर्णित है।

कर्म की इन विविध दशाओंके सिवाय जैनदर्शनमें कर्मोंका स्वामी, कर्मोंकी स्थिति, कब कौन प्रकृति बंधती है, किसका उदय होता है, किसकी सत्ता रहती है, किसका क्षय होता है? आदि कर्मविषयक चर्चाके प्रत्येक आवश्यक अंगका वर्णन किया है। अन्य दर्शनोंमें यह कोई स्वतन्त्र विषय नहीं समझा गया और इस लिये उसकी चर्चाके लिये स्वतन्त्र ग्रन्थनिर्माण

स्याविपक्कस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधान कर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्।' पृ० १७१।

१ अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।" २, ४।

की ओर किसीका ध्यान नहीं गया। किन्तु जैनदर्शनमें इसका प्रमुख स्थान होनेके कारण कर्मविषयक साहित्य अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है और उसका जैन साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२ कर्मविषयक साहित्य

भगवान महावीरके दिव्य उपदेशके सग्रहके रूपमें गणधरदेवके द्वारा जो द्वादशाग साहित्य सग्रहीत हुआ था, उसमें एक उप विभाग **कर्मप्रवाद** नामसे था। उसमें जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट होता है, कर्मविषयक वर्णन था। इसके सिवाय द्वितीय पूर्वके एक विभाग का नाम **कर्मप्राभृत** था और पञ्चम पूर्वके एक विभागका नाम **कषायप्राभृत** था। उनमें भी कर्मविषयक वर्णन था। किन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायमें आज वह साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके आधार पर जो कर्मविषयक साहित्य रचा गया है, वह आज भी उपलब्ध है और प्रकाशमें आ चुका है। दोनों ही सम्प्रदायोंके उस विपुल साहित्यको देखकर सहजमें ही इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि कर्मवादका जैनदर्शनमें क्या स्थान है और कर्मविषयक साहित्य उसकी कितनी विपुल सम्पत्ति है।[१]

१ जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका स्थान—इससे पाठक जैनसाहित्यमें कर्मसाहित्यके स्थानकी महत्ताका अनुमान सरलतासे कर सकते हैं। यदि जैन साहित्यसे कर्मविषयक साहित्यको पृथक् कर दिया जाय तो उसकी विपुलताको तो गहरी क्षति पहुंचेगी ही, साथ ही साथ उसका महत्त्व भी हीन हुए बिना न रहेगा। दूसरे शब्दोंमें जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका वही स्थान है जो संस्कृत साहित्यमें व्याकरणका है। जैसे व्याकरण और

---

१ इसी मण्डलसे प्रकाशित प्रथम कर्मग्रन्थके परिशिष्टमें दोनों सम्प्रदायोंके कर्मविषयक साहित्यकी तालिका दी गई है।

बड़े विशाल और गहन हैं। उनमें साधारण बुद्धिका प्रथम तो प्रवेश ही कठिन है, प्रवेश हो जानेपर भी उसमेंसे कुछ मतलबकी बात निकाल लेना और भी कठिन है। अतः यदि प्रत्येक विषयको लेकर जुदे जुदे कर्मग्रन्थों की रचना न की जाती तो कर्मविषयक साहित्यके पठन पाठनको प्रोत्साहन नहीं मिलता। श्वेताम्बरसाहित्यमें ६ कर्मग्रन्थ प्राचीन हैं। उनमें यद्यपि कर्मसाहित्यके एक एक विषयकी चर्चा है, तथापि न तो वे एक आचार्यके बनाये हुए हैं और न एक समयमें ही उनकी रचना हुई है। उनके निर्माता भी भिन्न भिन्न हैं और उनका रचनाकाल भी भिन्न है। उनके साथ लगे प्राचीन विशेषणसे यह भी स्पष्ट है कि वे पुराने हैं किन्तु पुराने होनेपर भी पुरानोंके साथमें प्राचीन विशेषण लगानेका पद्धति नहीं देखी जाती। अतः यह प्राचीन विशेषण केवल उनका पुरातनपन बतलानेके लिये ही नहीं लगाया गया, किन्तु बादके बने नवीन कर्मग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व बतलानेके लिये लगाया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने उन प्राचीन कर्मग्रन्थोंका अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ बनाये थे। कर्मग्रन्थ एक तो परिमाणमें प्राचीन कर्मग्रन्थोंसे छोटे थे दूसरे उनका कोई विषय इनमें छूटने नहीं पाया, तीसरे इनमें अन्य अनेक नये विषयोंका भी संग्रह किया गया। सारांश यह है कि प्राचीन कर्मग्रन्थोंके संकलनमें जो त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हें देवेन्द्रसूरिने पूरी कर दिया। भिन्न भिन्न आचार्योंकी रचनाओंमें वह क्रमबद्धता और एक दृष्टि कैसे रह सकती है जो एक ही आचार्यकी सङ्कलित की गई रचनाओंमें पाई जा सकती है। फलतः जनताने उन्हें खूब अपनाया और मुनि श्री चतुर विजयजीके शब्दोंमें 'थोड़ा एक गणत्रा गाठ्या विद्वानो सिवाय भाग्ये जे कोई जाणतु हशे आचार्य श्री देवेन्द्र सूरिना कर्मग्रन्थो सिवाय बीजा प्राचीन कर्मग्रन्थों पण छे जेने आधारे आचार्य देवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे।''[1]

१ 'सटीका चत्वार कर्मग्रन्था' की प्रस्तावना में।

अर्थात् थोड़ा एक विद्वानोंके सिवाय भाग्यसे ही कोई जानता होगा कि देवेन्द्रसूरिके कर्मग्रन्थोंके सिवाय कोई प्राचीन कर्मग्रन्थ भी हैं, जिनके आधारपर आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी रचनाकी है। जैसे दिगम्बर साहित्यमें **गोम्मटसारकी** संकलनाके बाद लोग **धवला, जयधवला** सरीखे महान् सिद्धान्तग्रन्थोंको भी भूल गये, उसी तरह इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद लोग प्राचीन कर्मग्रन्थोंको भूलगये गये। इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद श्री जयतिलकसूरिने संस्कृत कर्मग्रन्थोंकी रचना की। किन्तु फिर भी उनकी प्रतिष्ठा और ग्राह्यताको कोई क्षति नहीं पहुँची। उत्तरकालमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इन नवीन **कर्मग्रन्थोंके** कारण और दिगम्बर सम्प्रदायमें **गोम्मटसारके** कारण कर्म-विषयक साहित्यके पठनपाठनको खूब प्रोत्साहन मिला। इस तरह जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका स्थान क्रमशः उन्नत होता गया और नवीन नवीन रचनाओंने उसके प्रचारमें बड़ी सहायता की।

३ नवीन कर्मग्रन्थ

प्रस्तुत **पञ्चम कर्मग्रन्थ** देवेन्द्रसूरिरचित उक्त नवीन कर्मग्रन्थोंमेंसे पाँचवा कर्मग्रन्थ है। इससे पूर्वके चार कर्मग्रन्थ इसी मण्डलसे पहले प्रकाशित हो चुके हैं। यद्यपि उन कर्मग्रन्थोंके बारेमें उनकी प्रस्तावनाओंमें बहुत कुछ लिखा गया है तथापि बहुत सी बातोंमें परस्परमें सम्बद्ध होनेके कारण उनपर सामूहिक रूपसे विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्रस्तुत **पञ्चम कर्मग्रन्थकी** परिस्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती।

१ नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम—प्रथम कर्मग्रन्थका नाम **कर्मविपाक** है। ग्रन्थके आदिमें[1], अन्तमें[2] और उसकी स्वोपज्ञटीकामें[3] ग्रन्थकारने उसे

---

१ 'कम्मविवाग समासओ वुच्छं'। २ 'इइ कम्मविवागोऽयं'।
३ 'टीका कर्मविपाकस्य'।

इसी नामसे कहा है। दूसरे कर्मग्रन्थका नाम कर्मस्तव है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आया किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदिमें तथा प्रशस्तिमें ग्रन्थकारने उसे इसी नामसे अभिहित किया है। तीसरे कर्मग्रन्थका नाम बन्धस्वामित्व है। इस पर स्वोपज्ञ टीका नहीं है किन्तु अन्य आचार्यकी 'अवचूरि' है। ग्रन्थकी प्रथम तथा अन्तिम गाथामें 'बन्धसामित्व' पद आता है। सम्भवतः इसीसे अवचूरिकारने इस बन्धस्वामित्व नाम दिया है। अतः यह नाम भी ग्रन्थकारका दिया हुआ ही समझना चाहिये। चौथे कर्मग्रन्थका नाम षडशीतिक है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आता, किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदि तथा अन्तमें और प्रशस्तिमें उसका यही नाम दिया है। पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम शतक है। ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें यह नाम आता है। अतः पाँचों नवीन कर्मग्रन्थोंके जो नाम प्रचलित हैं वे सब ग्रन्थकारके दिये हुए हैं इसमें किसी प्रकारके सन्देहके लिये स्थान नहीं है। उनमें प्रथम तीन नाम तो ग्रन्थमें वर्णित विषयके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मप्रकृतियोंके विपाकका वर्णन है, दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका स्तवन—वर्णन किया गया है, और तीसरेमें गति आदि मार्गणाओंमें कर्मबन्धके स्वामित्वका विचार किया गया है। तथा अन्तके दो नाम ग्रन्थके परिमाणके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि चौथे कर्मग्रन्थमें ८६ गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **षडशीतिक** है और पञ्चम कर्मग्रन्थमें १०० गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **शतक** है।

२ ये नाम पूर्वजोंके ऋणी हैं—पहले बतलाया गया है कि नवीन

---

१ 'कर्मस्तवस्य विवृतिम्'। २ कर्मस्तवस्य टीकेयम्'। ३ 'बन्धस्वामित्वस्य व्याख्येयं'। ४ 'श्री षडशीतिकशास्त्रं'। ५ 'षडशीतिकशास्त्र समर्थयाद'। ६ 'षडशीतिकटीकेयम्'। ७ 'देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं'।

कर्मग्रन्थोंकी रचना प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर हुई है अत उनके नामोंका भी अपने पूर्वजोंका ऋणी होना स्वाभाविक है । किन्तु जहाँतक हमे मालूम हो सका है उन कर्मग्रन्थोंमे उनका नाम नहीं दिया हुआ है। अत यह विचार करनेकी आवश्यकता है कि ये नामकरण ग्रन्थकार स्वय ग्रन्थकारके दिमागकी उपज है या उन्होंने उसमे भी अपने पूर्वव र्तियोका अनुसरण किया है ?

देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञटीकामे प्राचीन कर्मग्रन्थोका **वृहत्कर्मविपाक, वृहत्कर्मस्तवसूत्र** और शतकके नामसे उल्लेख[1] किया है। तथा तीसरे कर्मग्रन्थकी अवचूरिमे **वृहद्बन्धस्वामित्व** और प्राचीन **षडशीतिक**का उल्लेख[2] मिलता है। इससे स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरिसे पहले प्राचीन कर्मग्रन्थ उक्त नामोंसे प्रसिद्ध थे तथा उनकी टीकाओंमे उनका यही नाम मौजूद था । इसीसे देवेन्द्रसूरिने भ्रमनिवारणके लिये उनके नामोंके साथ 'वृहत्' विशेषण लगाकर अपने ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व तथा प्राचीनता सिद्ध की है। उक्त बातकी पुष्टिमे एक और भी उपपत्ति है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कर्मग्रन्थका नाम **कर्मविपाक** वगैरह रखकर भी देवेन्द्र सूरिने प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षासे उनमें गाथाओंका प्रमाण बहुत कम रखा है । मुनिवर चतुरविजयजीके लेखानुसार[3] प्रथम तीन प्राचीन कर्म ग्रन्थोंमें गाथाओंकी सख्या क्रमश १६८,५७ और ५४ है जब कि प्रथम तीन नवीन कर्मग्रन्थोंकी गाथाओंकी सख्या क्रमश ६०, ३४ और २४ है। किन्तु प्राचीन चौथे और पाँचवे कर्मग्रन्थमें क्रमश ८६ और १०२ गाथाएँ है, तथा नवीनमें भी क्रमश ८६ और १०० गाथाएँ हैं। इससे

---

१ 'उक्त च वृहत्कर्मविपाके' पृ० २६। 'यदुक्त वृहत्कर्मस्तवसूत्रे' पृ० ९२। 'यदुक्त श्री शिवशर्मसूरिपादै शतके' पृ० ७९। सटी० च० कर्म०।

२ 'उक्त तद् वृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण ।' 'षडशीतिके तु तस्य । पृ० १११ सटी० च० कर्म०। ३ देखो, सटी० च० कर्म० की प्रस्तावना।

स्पष्ट है कि प्रथम तीन ग्रन्थोंके नाम गाथासंख्याके आधार पर न होनेके कारण उनका नाम पूर्ववत् रखकर गाथासंख्यामें कमी करदी, क्योंकि गाथासंख्या कम करदेने पर भी उनके नामपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। किन्तु चतुर्थ और पंचमका नाम गाथासंख्याके आधारपर था। अत यदि उनकी गाथासंख्यामें कमी की जाती तो उसका नामपर असर पड़ता और उस अवस्थामें पुराने नाम **षडशीतिक और शतकमें** परिवर्तन करना पड़ता, जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं था। अत उन्होंने उनकी गाथासंख्यामें कोई फेर बदल नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं।

३ कर्मग्रन्थों का पौर्वापर्य—कर्मग्रन्थोंके असली नामके बारेमें निर्णय हो जाने पर भी उनके 'पहला' 'दूसरा' आदि नामोंके बारेमें यह शङ्का बनी ही रहती है कि **कर्मविपाक** पहला है, इत्यादि क्रम भी प्राचीन ही है या बादमें उसकी कल्पना की गई है? अत उसका समाधान होना भी आवश्यक है।

प्राचीनकर्मग्रन्थोंके बारेमें तो यह कहा ही नहीं जा सकता कि उनके कर्ताओंने स्वयं उन्हें प्रथम द्वितीय आदि की उपाधि दी थी, क्योंकि वे एक कर्ता की रचनाएँ नहीं हैं, भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न आचार्योंने उन्हें बनाया है। तथा विपाक पहले बना, कर्मस्तव उसके बाद बना, बन्ध-

१ प्राचीन शतक की गाथा संख्यामें मतभेद मालूम होता है। सटी० च० कर्म० की प्रस्तावना में (पृ० १४) मुनि श्री चतुरविजयजी ने इसकी गाथा संख्या १०२ बतलाई है। उसीके परिशिष्ट नं० ६ में जो कि प्रथम कर्मग्रन्थसे दिया गया है उसकी गा० सं० १११ लिखी है। शतक की टीका में आचार्य मलधारी हेमचन्द्रने 'गाथाशतपरिमाणनिष्पन्न यथार्थनामक शतकाख्यम्' आदि लिखकर उसकी गाथाओं का परिमाण सौ ही बतलाया है।

स्वामित्व उसके भी बाद बना, ऐसा भी कोई क्रम अभी तक निर्णीत नहीं होसका है। मुनिवर चतुर विजयजीका मत है—'आरीतें एकंदर जोता विक्रमना त्रीजा के चौथा सैकाथी लई विक्रमनी बारमी सदी सुधीमा थयेल जुदा जुदा आचार्यो द्वारा आकर्मग्रन्थोनी रचना उत्क्रम थी ज करायेल होई। हमें भी ऐसा ही जंचता है। अत कर्मग्रन्थोका पौर्वापर्य प्राचीन तो प्रतीत नहीं होता।

नव्यकर्मग्रन्थ एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं अत देखना चाहिये कि वे उक्त विषय पर कहाँ तक प्रकाश डालते हैं? इसके लिये उनके रचनाक्रम पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तक मूलग्रन्थकी गाथाओं-के अवलोकनसे पता लगाया जा सका है वहाँ तक हमारे देखनेमें केवल एक स्थल ही ऐसा मिला है जिसमें उसके पूर्ववर्ती कर्मग्रन्थके पढ़नेकी सलाह उसका नाम लेकर दी गई है। तीसरे कर्मग्रन्थकी अन्तिम गाथामें लिखा है कि 'कर्मस्तवको सुनकरके इसे जानना चाहिये।' कर्मस्तव द्वितीय कर्मग्रन्थ का नाम है अत तीसरेसे पहले दूसरे कर्मग्रन्थके पढ़ने की सम्मति ग्रन्थकार देते हैं। इससे कर्मस्तव और बन्धस्वामित्वका पौर्वापर्य तो स्पष्ट हो जाता है। शेषके लिये हमें उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंका आश्रय लेना होगा।

पहले कर्मविपाकको देखिये। इसकी टीकामें ग्रन्थकारने अपने किसी भी कर्मग्रन्थका उल्लेख नहीं किया है। तथा इसकी पहली ही गाथाके उत्तरार्द्ध-में 'कर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति दी गई है, जो उन्होंने अन्यत्र नहीं दी, तथा द्वितीय कर्मग्रन्थ की टीकामें स्वोपज्ञ कर्मविपाक और स्वोपज्ञ कर्मविपाक-टीका का उल्लेख किया है। और चतुर्थ कर्मग्रन्थकी टीकामें स्वोपज्ञ-कर्मविपाक टीका का तथा पञ्चम कर्मग्रन्थकी टीकामें कर्मविपाक का उल्लेख है। अत स्पष्ट है कि कर्मविपाक पहला कर्मग्रन्थ है और अन्य

१ 'नेय कम्मत्थय सोउ'। २ पृ० ६७। ३ पृ० ७९।
४ पृ० १६४। ५ पृ० ८५।

कर्मग्रन्थसे पहले उसकी रचना हुई है। इस तरह प्रथम द्वितीय और तृतीय का पौर्वापर्य तो ठीक बैठ जाता है। केवल चतुर्थ और पञ्चमकी बात शेष रह जाती है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थकी पहली ही गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञ कर्मस्तव** की टीकामें गुणस्थानोंका सविस्तर वर्णन करनेका उल्लेख किया है। उधर **कर्मस्तव** की दूसरी गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञशतक टीका** तथा **स्वोपज्ञ-षडशीतिक टीका**का उल्लेख किया है और लिखा है कि उपशम श्रेणिका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञशतकटीकामें** दिया है, समुद्घातका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञषडशीतिकटीकामें** दिया है। **शतककर्मग्रन्थके** अन्तमें उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिका वर्णन आता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **शतक** की टीका पहले बनाई गई है। अन्यथा **कर्मस्तव**की दूसरी ही गाथाकी टीकामें उसके अन्तमें वर्णित श्रेणियोंके स्वरूपका उल्लेख न होता। किन्तु **शतक** की २६ वीं गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'गुणस्थानोंकी अपेक्षासे प्रकृतिबन्धके स्वामित्वका विचार **लघुकर्मस्तव**-की टीकामें किया है और मार्गणाओंकी अपेक्षासे स्वोपज्ञ **बन्धस्वामित्व** की टीकामें किया है, अतः यहाँ नहीं किया।' इस उल्लेखसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि **लघुकर्मस्तवके** नामसे ग्रन्थकारने अपने ही कर्मग्रन्थका उल्लेख किया है किन्तु यदि ऐसा होता तो **कर्मस्तवकी** टीकाके प्रारम्भमें ही **शतक टीका** के अन्तमें वर्णित विषयका उल्लेख न पाया जाता। अतः मालूम होता है कि यह **लघुकर्मस्तवग्रन्थ** कोई दूसरा है, और **स्वोपज्ञकर्मस्तव** की टीकासे पहले ग्रन्थकारने **शतक टीका**का निर्माण कर लिया था। अब रह जाता है **षडशीतिक**। उसकी रचना तो **शतकसे** पहले ही हुई जान पड़ती है, क्योंकि **शतककी** टीकामें ग्रन्थकारने **षडशीतिक शास्त्रका** उल्लेख किया

१, पृ० ७३-७४। २ पृ० ७६। ३ पृ० ३६।
४ इस सम्बन्धमें अभी हम निःसंशय नहीं हैं। ले०। ५ पृ० १२१।

है, जब कि षडशीतिकी टीकामें शतकका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु कर्मस्तव की टीकामें षडशीतिक टीकाका और षडशीतिक टीकाके प्रारम्भमें ही स्वोपज्ञकर्मस्तव टीकाका उल्लेख होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ साथ साथ बनाई गई हैं। इस चर्चासे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचों मूल कर्मग्रन्थ उसी क्रमसे बनाये गये हैं, जिस क्रमसे वे प्रथम, द्वितीय वगैरह कहे जाते हैं। किन्तु स्वयं ग्रन्थकारने उन्हें यही प्रथम, द्वितीय आदि कहा हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है, उनके विषयक्रमको देख कर ही उन्हें प्रथम द्वितीय आदि नाम दे दिये गये हैं, क्योंकि कर्मसाहित्यमें वर्णनका प्रायः यही क्रम पाया जाता है और वह है भी क्रमबद्ध ही।

४ कर्मग्रन्थोंका विषय–जैसा कि प्रारम्भमें ही बतलाया है और नामसे भी स्पष्ट है, सामान्यरूपसे कर्मग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय जैन सिद्धान्तका प्रधान अङ्गभूत कर्मसिद्धान्त ही है। विशेषरूपसे–प्रथम कर्मग्रन्थमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेदोंके नाम तथा उनके फलका वर्णन है। दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंका स्वरूप समझाकर उनमें प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका विचार किया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक अमुक गुणस्थानमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध, अमुक अमुक प्रकृतियोंका उदय, अमुक अमुक प्रकृतियोंकी उदीरणा और अमुक अमुक प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गणाओंके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंको बतलाया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक मार्गणावाला जीव किन किन प्रकृतियोंका बन्ध करता है? चौथे कर्मग्रन्थमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और संख्या ये पाँच विभाग करके उनका विस्तारसे वर्णन किया है। जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों

१, पृ० ७६। २, पृ० ११२।

की चर्चा की है। मार्गणास्थानमें जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व, इन छः विषयोंकी चर्चा की है। और गुणस्थानमें जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन नौ विषयोंका वर्णन किया है। भावमें औपशमिकादि भावोंका और संख्यामें संख्यात असंख्यात और अनन्तके भेदोंका स्वरूप बतलाया है।

पञ्चमकर्मग्रन्थमें, प्रथमकर्मग्रन्थमें वर्णित प्रकृतियोंमेंसे कौन कौन प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघाती, देशघाती, अघाती, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना हैं, यह बतलाया है। उसके बाद उन्हीं प्रकृतियोंमें, कौन कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी हैं, यह बतलाया है। उसके बाद कर्मप्रकृतियोंके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार प्रकारके बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबन्धको बतलाते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्धोंको गिनाया है। स्थितिबन्धको बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोंके उसका प्रमाण निकालनेकी रीति और उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंका वर्णन किया है। तीसरे अनुभागबन्धको बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र या मन्द रस पड़नेके कारण शुभाशुभ रसका विशेष स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी वगैरहका कथन किया है। चौथे प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए वर्गणाओंका स्वरूप उनकी अवगाहना, बद्धकर्मदलिकोंका मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियोंमें बँटवारा, कर्मोंके क्षपणमें कारण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणि रचनाका स्वरूप, गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसङ्गवश पल्योपम, सागरोपम और पुद्गलपरावर्तके भेदोंका स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामी, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व,

और प्रसगवश लोक वगैरहका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमे उपशम-श्रेणि और क्षपकश्रेणिका सुन्दर कथन किया है।

५ कर्मग्रन्थोंका आधार—पहले बतला आये हैं कि इन नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं। तथा उनके आधारपर ही इनकी रचना हुई है। जिन्होंने दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन किया है, उनका भी ऐसा ही कहना है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि स्वय ग्रन्थकार इस सम्बन्धमे क्या कहते हैं? पहले, दूसरे तथा तीसरे कर्मग्रन्थके आदि या अन्तमे इस सम्बन्धमे कोई उल्लेख हमारे देखनेमे नहीं आया। चतुर्थ कर्मग्रन्थकी टीकाके अन्तमे लिखा है कि **पञ्चसग्रह** आदि शास्त्रोंसे इस **षडशीतिकशास्त्रको** रचा है। तथा पञ्चमकर्मग्रन्थकी टीकाके प्रारम्भमे **प्राचीनशतकके** प्रणेता श्रीशिवशर्मसूरिका स्मरण किया है और अन्तमे लिखा है कि **कर्मप्रकृति, पञ्चसग्रह, बृहत्शतक** आदि शास्त्रोंके आधारपर इस **शतकशास्त्रको** रचा है। इससे स्पष्ट है कि इन कर्मग्रन्थोंका आधार प्राचीनकर्मग्रन्थ तो हैं ही, किन्तु **कर्मप्रकृति** और **पञ्चसग्रहसे** भी पर्याप्त सहायता ली गई है। जिस **शतकका** यह अनुवाद है, उसकी रचनाका आधार तो मुख्यतया **कर्मप्रकृति** और **पञ्चसग्रह** ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसकी टीकामे १६ जगह **कर्मप्रकृतिका**, चार जगह **कर्मप्रकृतिकी** चूर्णिका, तीन जगह **कर्मप्रकृतिकी** टीकाका, आठ जगह **पञ्चसग्रहका** तथा दो तीन जगह **पञ्चसग्रहटीकाका** उल्लेख मिलता है। इतना अधिक उल्लेख किसी दूसरे ग्रन्थका देखनेमे नहीं आया। तथा हमने अपने अनुवादके नीचे टिप्पणीमे तुलनाके लिये कहीं-कहीं जो गाथाएं उद्धृत की हैं, उनसे भी यही बात प्रकट होती है। **शतककी** अनेक गाथाओंपर **पञ्चसग्रहकी** स्पष्ट छाप है, कहीं कहीं तो थोड़ासा ही परिवर्तन पाया जाता है। **शतककी** ३६ वीं गाथाका व्याख्यान

---

१ प्रयत्न करनेपर भी हमें प्राचीन कर्मग्रन्थ उपलब्ध न हो सके। ले०।

ग्रन्थकारने पहले पञ्चसंग्रहके अभिप्रायके अनुसार किया है, पश्चात् कर्मप्रकृतिके अभिप्रायके अनुसार किया है। कर्मप्रकृति और पञ्चसंग्रहमें कुछ बातोंको लेकर मतभेद है। कर्मप्रकृतिकारका मत प्राचीन प्रतीत होता है, फिर भी कहीं-कहीं ग्रन्थकारका झुकाव पञ्चसंग्रहके मतकी ओर विशेष जान पड़ता है। यद्यपि उन्होंने दोनोंके मतोंको समान भावसे अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है, और कर्मप्रकृतिको स्थान-स्थानपर प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है, तथापि पञ्चसंग्रहके मतको उद्धृत करते हुए कहीं कहीं उसे अग्रस्थान देनेसे वे चूके नहीं हैं। कहना न होगा कि विशेषसे इन्हीं दोनों ग्रन्थोंके आधारपर उन्होंने शतक का निर्माण किया है।

४ नवीन कर्मग्रन्थोंके रचयिता

१ कर्मग्रन्थोंके रचयिता—इन कर्मग्रन्थोंके रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरि हैं। उन्होंने अपने प्रत्येक कर्मग्रन्थकी अन्तिम गाथामें अपना नाम दिया है, और उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। जिससे पता चलता है कि उनके गुरुका नाम श्रीजगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विबुधवर श्रीधर्मकीर्ति और श्रीविद्यानन्दसूरिने उनके कर्मग्रन्थोंकी टीकाओंका संशोधन किया था।

२ उनकी रचना शैली—ग्रन्थकार श्रीदेवेन्द्रसूरिकी रचनाशैली प्रसन्न है। वे संक्षेपमें कितना अधिक कह जाते हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके रचे हुए कर्मग्रन्थ हैं। शतककी सौ गाथाओंमें उन्होंने कर्मशास्त्रका पर्याप्त निचोड़ भर दिया है। किन्तु यदि हमारे सामने उनके मूल कर्मग्रन्थ ही होते और स्वोपज्ञ टीकाएँ न होतीं तो उनकी शैलीका हम ठीक ठीक समझ भी सकते या नहीं, यह कहना कठिन है। उनकी शैलीका स्पष्ट दर्शन तो उनकी संस्कृत टीकाओंमें होता है। उनमें बहती हुई वाग्धारामें डुबकी लगाते कर्मसिद्धान्तरूपी गहन वनमें विचरण करते करते प्राप्त हुई थकान तो दूर

हो ही जाती है साथ ही साथ उसका अवगाहन करते हुए पाठकको अध्ययनकी जो प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, उससे उसके मनमें नव-जीवनका सञ्चार हुए बिना नहीं रहता। वे प्रत्येक विषयका अच्छा स्पष्टीकरण करते हैं और लिखनेसे पहले तत्सम्बन्धी उपलब्ध साहित्यको पढ़ डालते हैं। तथा उनमें सम्बन्धमें जो मतान्तर होते हैं, उन्हें भी अवश्य स्थान देते हैं। वे किसी विषयके सम्बन्धमें अपने पाठकको अन्धकारमें रखना नहीं चाहते, प्रत्युत अपनी अध्ययनशीलताके बलपर उसे अधिकसे अधिक ज्ञानार्जनका अवसर देते हैं। उनकी टीकाओंमें आगत कुछ चर्चाएं तो अपने विषयके सुन्दर प्रबन्ध कहे जा सकते हैं।

३ उनकी अध्ययन शीलता-ग्रन्थकारने अपनी टीकाओंमें जो अनेक ग्रन्थोंसे प्रमाण उद्धृत किये हैं उससे उनकी अध्ययनशीलताका अनुमान सहजमें ही किया जा सकता है। शतककी टीकामें ही ५०के लगभग ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं, जिनमें **आवश्यक, नन्द्यध्ययन, कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह, विशेषणवती** वगैरहके नाम उल्लेखनीय हैं। तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम भी दिये हैं, जिनमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, गन्धहस्ती, शिवशर्मसूरि, तथा हेमचन्द्रसूरिका नाम उल्लेखनीय है। बाकीके कर्मग्रन्थोंकी टीकाओंमें भी लगभग इतने ही ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं, तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम दिये हैं, जिनमें उक्त नामोंके सिवाय हरिभद्रसूरि, शीलाङ्क और मलयगिरि वगैरहके नाम भी हैं। इस प्रकारके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरि बड़े अध्ययनशील थे और श्वेताम्बर आगम साहित्य तथा कर्मविषयक साहित्यका उन्हें बड़ा अच्छा अनुगम था। प्रथम तथा चतुर्थ कर्मग्रन्थकी टीकामें एक स्थानपर प्रज्ञाकर गुप्तका भी एक श्लोक उद्धृत किया है। यह प्रज्ञाकर गुप्त प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक ही प्रतीत होता है। इस उल्लेखसे अनुमान होता है कि उन्हें दर्शनान्तरका

१ पृ० ४५। २ पृ० १५४।

भी अभ्यास था।

४ ग्रन्थकारका समय-ग्रन्थकारने अपनी टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि लिखा है। **गुर्वावलीमें** इन जगच्चन्द्रसूरिके बारेमें लिखा है कि वि०सं०१२८५में इन्होंने उग्रतप धारण किया था, इससे उनकी ख्याति 'तपा' के नामसे हो गई, और इनका वृद्धगच्छ तपागच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसके ये आद्य पुरुष कहलाये। देलवाड़ाके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका बहुत आदर करते थे। **गुर्वावलीमें** लिखा है कि तपा गच्छकी स्थापनाके बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य श्री देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद समर्पित किया था। तथा श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको, जब उसके विवाह संस्कारकी तैयारी हो रही थी, उस समय प्रतिबोध कर वि० सं० १३०२ में दीक्षा दी थी। बादको वि० सं० १३२३ में गुजरातके प्रह्लादनपुर नामके नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल श्री विद्यानन्दसूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अपने गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरिरचित कर्मग्रन्थों-की टीकाका संशोधन किया, जिसका उल्लेख प्रशस्तिमें स्वयं श्रीदेवेन्द्रसूरिने किया है। **गुर्वावलीमें** यह भी लिखा है कि वि०सं० १३२७ में उनका स्वर्गवास हुआ। इन उल्लेखोंके आधारपर उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध ज्ञात होता है।

अब देखना चाहिये कि **गुर्वावलीमें** प्रतिपादित उक्त समयपर उनके ग्रन्थोंमें पाये जाने वाले उद्धरण वगैरह कहाँ तक प्रकाश डालते हैं। हम पहले लिख आये हैं कि श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाओंमें अनेक ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं तथा, अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

---

१ 'रुद्रादिनागद्विपभानुवर्षे श्रीविक्रमाद् प्राप तदीयगच्छ।
बृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमान ॥९५॥"

उन उल्लेखोंमेंसे अनेक प्राचीनतर उल्लेखोंको छोड़कर यहाँ हम केवल दो ही उल्लेखोंको लेंगे। श्रीदेवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाओंमें अनेक जगह श्री हेमचन्द्रसूरि और उनके प्राकृत व्याकरणका स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रभावक चरितके अनुसार आचार्य हेमचन्द्रकी जन्मतिथि वि०स०११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा थी और उनका अवसान वि०स० १२२९ में हुआ था। अत उनका उल्लेख करनेवाले श्री देवेन्द्रसूरि विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके मध्यकालसे पहले तो किसी भी तरह नहीं हो सकते। तथा उन्होंने प्रसिद्ध टीकाकार श्री मलयगिरिका भी उल्लेख किया है। यह मलयगिरि आचार्य श्रीहेमचन्द्राचार्यके सहपाठी माने जाते हैं। इन्होंने **सप्ततिका** नामक छठे कर्मग्रन्थकी टीकामें **सिद्धहेमन्याकरणसे** उद्धरण दिया है। तथा अपना **आवश्यकवृत्तिमें 'तथा चाहु स्तुतिषु गुरव'** करके आचार्य हेमचन्द्रकृत **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाका** ३०वां श्लोक उद्धृत किया है। इसप्रकार आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले मलयगिरिका उल्लेख श्री देवेन्द्रसूरिने किया है। इतना ही नहीं, किन्तु अपनी टीकाओंमें कहीं कहीं उन्होंने मलयगिरिका शब्दश अनुसरण किया है। उदाहरणके लिये ऊपर मलयगिरिकी जिस **सप्ततिकाकी** टीकाका उल्लेखकर आये हैं, उसमें मलयगिरिने विशेषार्थी को **कर्मप्रकृति टीका** को देखने का अनुरोध-जिन शब्दोंमे किया है उन्हीं शब्दोंमे श्रीदेवेन्द्रसूरि भी अपनी टीकामे

---

१ प्रथ०कर्म०टी० पृ० ४५,५८ तथा पञ्च०कर्म०टी०पृ० ९ और १८

२ 'यदाहु श्री हेमचन्द्रसूरिपादा स्वप्राकृतलक्षण।'

३'यदाहु सप्ततिकाटीकाया श्रीमलयगिरिपादा।'द्वि कर्म टी पृ ८१।

४ पृ० १३९।

५ मलयगिरि लिखते हैं—'इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्य तत्तु ग्रन्थ गौरवभयान्नोच्यते, केवल विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या। पृ० २५२। पञ्च० कर्म० टी०, पृ० १२९ में भी यही शब्द हैं।

धर्मप्रकृति टीका को देखने का अनुरोध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्रसूरि न केवल आचार्य हेमचन्द्रके पश्चात् हुए हैं, बल्कि 'गुरव' जैसे सम्मानसूचक पदसे आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले आचार्य मलयगिरिसे भी बादमें हुए हैं। आचार्य मलयगिरिको आचार्य हेमचन्द्रका लघु समकालीन माना जाता है। अतः यदि हेमचन्द्राचार्य वि० सं० १२२९ तक रहे हैं तो मलयगिरिका समय वि० सं० १२५० तक माना जा सकता है। इसी समयके लगभगमें श्री देवेन्द्रसूरिका जन्म माननेसे वि० सं० की तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध उनका समय निश्चित होता है जो कि गुर्वावलीके भी अनुकूल है।

कार्तिकी पूर्णिमा
वीरनिर्वाणाब्द
२४६८

कैलाशचन्द्र शास्त्री
स्याद्वादविद्यालय काशी

हिन्दी व्याख्या सहित

पञ्चम कर्मग्रन्थका विषयानुक्रम

कर्मप्रकृति टीका को देखने का अनुरोध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्रसूरि न केवल आचार्य हेमचन्द्रके पश्चात् हुए हैं, बल्कि 'गुरव' जैसे सम्मानसूचक पदसे आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले आचार्य मलयगिरिसे भी बादमें हुए हैं। आचार्य मलयगिरिको आचार्य हेमचन्द्रका लघु समकालीन माना जाता है। अतः यदि हेमचन्द्राचार्य वि० सं० १२२९ तक रहे हैं तो मलयगिरिका समय वि० सं० १२५० तक माना जा सकता है। इसी समयके लगभगमें श्री देवेन्द्रसूरिका जन्म माननेसे वि० सं० की तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध उनका समय निश्चित होता है जो कि गुर्वावलीके भी अनुकूल है।

कार्तिकी पूर्णिमा
वीरनिर्वाणाब्द
२४६८

कैलाशचन्द्र शास्त्री
स्याद्वादविद्यालय काशी

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित शतकनामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

प्रथम ही ग्रन्थकार इष्टदेवको नमस्कार करके ग्रन्थमें वर्णित विषयका निर्देश करते हैं—

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छं बंधविह सामी य ॥ १ ॥

अर्थ—जिन भगवानको नमस्कार करके ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, घातिनी अघातिनी, पुण्य, पाप, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, क्षेत्रविपाका, जीवविपाका, भवविपाका और पुद्गलविपाका प्रकृतियोंका, तथा बन्धके भेद, उनके स्वामी और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणीका कथन करूंगा ।

[illegible]र्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने मङ्गलके साथ ही साथ उन [illegible] कर दिया है, जिनका निरूपण इस कर्मग्रन्थमें किया [illegible]द-प्रभेदोंको प्रकृति भी कहते हैं, और उनकी अनेक [illegible]ह अवस्थाओंका वर्णन इस कर्मग्रन्थमें [illegible]बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और [illegible]र कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति, [illegible] भी बतलाया है । इस प्रकार

देविंदसूरिलिहियं
सयगमिणं आयसरणट्ठा

॥ श्रीवीतरागाय नम ॥

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित शतकनामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ



प्रथम ही ग्रन्थकार इष्टदेवको नमस्कार करके ग्रन्थमें वर्णित विषयका निर्देश करते हैं—

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता।
सेयर चउहविवागा वुच्छं बंधविह सामी य॥ १॥

अर्थ—जिन भगवानको नमस्कार करके, ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, घातिनी अघातिनी, पुण्य, पाप, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भव-विपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंका, तथा बन्धके भेद, उनके स्वामी और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणीका कथन करूंगा।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने मङ्गलके साथ ही साथ उन विषयोंका भी निर्देश कर दिया है, जिनका निरूपण इस कर्मग्रन्थमें किया गया है। कर्मके भेद-प्रभेदोंको प्रकृति भी कहते हैं, और उनकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उनमेंसे सोलह अवस्थाओंका वर्णन इस कर्मग्रन्थमें किया है। तथा, बन्धके भेद—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्धका वर्णन भी किया है। और कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति अनुभाग या प्रदेशबन्धका स्वामी है, यह भी बतलाया है। इस

चौदह विषयोंका तो गाथामें नाम निर्देश किया है, और 'च' शब्दसे उप-शमश्रेणी और क्षपकश्रेणी सग्रहीत की गई हैं। अर्थात् उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीका वर्णन भी इस ग्रन्थमें किया है। इसप्रकार इस गाथाके द्वारा २६ विषयोंका वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है—ध्रुवबन्धी आदि १२, विपाक ४, बन्ध ४, उसके स्वामी ४ और 'च' शब्दसे दोनों श्रेणियाँ।

स्पष्टताके लिये गाथामें निर्दिष्ट कुछ विषयोंकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। अतः उनकी परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

ध्रुवबन्धिनी प्रकृति—अपने कारणके होनेपर, जिस कर्मप्रकृतिका बन्ध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेद पर्यन्त हरेक जीवके प्रत्येक समय बंधती है।

अध्रुवबन्धिनी प्रकृति—बन्धके कारणोंके होते हुए भी, जो प्रकृति बंधती भी है और नहीं भी बंधती, उसे अध्रुवबन्धिनी कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेदपर्यन्त बंधती भी है और नहीं भी बंधती।

ध्रुवोदया प्रकृति—अपने उदयकालके अन्त तक जिस प्रकृतिका उदय बराबर रुके बिना होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते हैं।

अध्रुवोदया प्रकृति—अपने उदयकालके अन्ततक जिस प्रकृतिका उदय बराबर नहीं रहता, कभी उदय होता है और कभी नहीं होता, उसे अध्रुवोदया कहते हैं।

ध्रुवसत्ताका प्रकृति—सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होनेसे पहले, अर्थात् मिथ्यात्वदशामें सभी संसारी जीवोंके जो प्रकृति सर्वदा वर्तमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताका कहते हैं। और—

१ 'नियहउसभवेवि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीण।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ ॥१५३॥'

२ "अव्वोच्छिन्नो उदओ जाण पगईण
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अ|

अध्रुवसत्ताका प्रकृति-मिथ्यात्वदशामें जिस प्रकृति की सत्ताका नियम नहीं होता, उसे अध्रुवसत्ताका कहते हैं।

घातिनी प्रकृति-जो कर्मप्रकृति आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका घात करती है, उसे घातिनी कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है एक सर्वघातिनी और दूसरी देशघातिनी।

अघातिनी प्रकृति-जो प्रकृति आत्मिक गुणोंका घात नहीं करती, उसे अघातिनी कहते हैं।

पुण्य प्रकृति-जिसका फल शुभ होता है।

पाप प्रकृति-जिसका फल अशुभ होता है।

परावर्तमाना-किसी दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनोंको रोककर जिस प्रकृतिका बंध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे परावर्तमाना कहते हैं।

अपरावर्तमाना-किसी दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनोंको रोके बिना जिस प्रकृतिका बंध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे अपरावर्तमाना कहते हैं।

क्षेत्रविपाका-नया शरीर धारण करनेके लिये जब जीव गमन करता है, उस समय ही अर्थात् विग्रहगतिमें जो कर्मप्रकृति उदयमें आती है, उसे क्षेत्रविपाका कहते हैं।

जीवविपाका-जो प्रकृति जीवमें ही अपना फल देती है, उसे जीवविपाका कहते हैं।

भवविपाका-जो प्रकृति नर-नारकादि भवमें ही फल देती है, अर्थात् जिसके फलसे जीव संसारमें रुकता है उसे भवविपाका कहते हैं।

पुद्गलविपाका-जो प्रकृति शरीररूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं

---

१ "विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंती अपरियत्ता ॥१६१॥" पंचसं०।

में अपना फल देता है उसे पुद्गलविपाकी कहते हैं।

इसप्रकार इस ग्रन्थमें वर्णित विभिन्न प्रकृतियोंकी परिभाषाएँ जाननी चाहिये।



१. ध्रुवबन्धिद्वार

क्रमानुसार प्रथम द्वारमें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

वन्नचउतेय कम्मा गुरुलहु-निमिणो-वघाय-भय-कुच्छा।
मिच्छ-कसाया-वरणा विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, सोलह कषाय पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और पाँच अन्तराय ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया

---

१ पञ्चसंग्रहकी निम्न गाथामें भी क्रमभंगसे मिलता जुलता निर्देश है—

"धुवबंधि धुवोदय-सव्वधाइ-परियत्तमाण असुभाओ।
पंच य सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥ १३२ ॥"

में ध्रुवबन्धी, ध्रुवोदय, सर्वघाती, परावर्तमान और अशुभ तथा इनके प्रतिपक्षी अध्रुवबन्धी अध्रुवोदय, देशघाती, अपरावर्तमान और शुभ द्वारों का तथा चार प्रकारकी विपाकी प्रकृतियोंका उल्लेख किया है।

गोमट्टसार कर्मकाण्डमें ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियोंको छोड़कर शेष प्रकृतियोंका यथास्थान निर्देश किया है।

२ पञ्चसंग्रह में ध्रुवबन्धिप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

"नाणंतरायदंसण, धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा।
अगुरुलघुनिमिणतेय उवघायं वण्णचउकम्मं ॥ १३३ ॥"

है। अपने अपने सामान्य कारणोंके होनेपर भी जिन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है, उन्हें ध्रुवबन्धिनी कहते हैं। मूल कर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। बन्ध-दशामें इनकी उत्तरप्रकृतियाँ क्रमसे ५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२० होती हैं। उनमेंसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं, क्योंकि चारों ही गतियोंके जीवोंके तैजस और कार्मण शरीर अवश्य होते हैं। तथा, औदारिक और वैक्रिय शरीरमेंसे किसी एकका बन्ध अवश्य होनेके कारण वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अवश्य बंधते हैं। तथा शरीरका बन्ध होनेपर निर्माण, उपघात और अगुरुलघुका बन्ध अवश्य होता है। इसलिये नामकर्म की ये नौ प्रकृतियाँ अपने कारणोंके होनेपर अवश्य बंधती हैं। अतः ध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं।

भयमोहनीय और जुगुप्सामोहनीयके बन्धकी विरोधिनी कोई प्रकृति नहीं है, इसलिये ये दोनों कर्मप्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं। मिथ्यात्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीयके उदयमें अवश्य बंधता है, अतः यह भी ध्रुवबन्धिनी है। तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका उदय रहते हुए अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध अवश्य होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। इसी तरह संज्वलन कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए संज्वलन कषाय क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। अतः ये सोलह कषाय भी ध्रुवबन्धी हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उन्नीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

तथा, ज्ञानावरण कर्मकी पाँच, दर्शनावरण कर्मकी नौ और अन्तराय

कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ अपने अपने बन्धविच्छेद होनेके स्थान तक अवश्य बंधती हैं, तथा इनमें विरोधिनी कोई अन्य प्रकृति भी नहीं है, अतः ये सब ध्रुवबन्धिनी[1] कहलाती हैं।

इस प्रकार ये सैंतालीस कर्मप्रकृतियाँ अपने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणोंके होनेपर सभी जीवोंके अवश्य बंधती हैं, इसलिये ये ध्रुवबन्धिनी[2] हैं। इनमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी उन्नीस, नामकर्मकी नौ और अन्तरायकी पाँच, इस प्रकार पाँच कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ सम्मिलित हैं।



२ अध्रुवबन्धिद्वार

द्वितीय द्वारका प्रारम्भ करते हुए अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

तणु-वंगा गिइ-संघयण-जाइ-गइ-खगइ पुव्वि-जिणु-सासं।
उज्जोयायव-परघा-तसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुग-वेय-आउ तेवुत्तरी अधुवबन्धा।

अर्थ—शरीर तीन—औदारिक, वैक्रिय और आहारक, उपाङ्ग तीन—औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग और आहारक अङ्गोपाङ्ग, संस्थान छह—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक, संहनन छह—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका

---

१ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इन प्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—
"घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचऊ।
सत्तेतालधुवाणं ॥ १२४ ॥"

२ यशोविजयजीने अपनी टीकामें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। देखो—कर्मप्रकृति बन्धनकरण पृष्ठ ९।

और संस्थान, जाति पाँच—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, गति चार—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक, विहायोगति दो—प्रशस्त और अप्रशस्त, आनुपूर्वी चार—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, त्रस आदि दस अर्थात् त्रसदशक और स्थावर दशक, गोत्र दो—उच्च और नीच, वेदनीय दो—सातवेदनीय और असातवेदनीय, हास्य आदि दो युगल अर्थात् हास्य, रति और शोक, अरति, वेद तीन—स्त्री, पुरुष और नपुंसक, आयु चार—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु और नरकायु, ये तिहत्तर प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं ।

भावार्थ—इस डेढ़ गाथामें ग्रन्थकारने अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको बतलाया है। बन्धके सामान्य कारणोंके रहनेपर भी इनका बन्ध नियमित रूपसे नहीं होता, अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी बन्ध नहीं होता, इसलिये इन्हें अध्रुवबन्धिनी कहते हैं। कारणोंके रहनेपर भी इनमेंसे कुछ प्रकृतियोंका बन्ध तो इसलिये नहीं होता कि उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ उनका स्थान ले लेती हैं, और कुछ प्रकृतियाँ स्वभावसे ही कभी बँधती हैं और कभी नहीं बँधती ।

इसका खुलासा निम्नप्रकार है—शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंमेंसे तैजस और कार्मणको तो ध्रुवबन्धी बतला आये हैं। शेष तीन शरीर और उनके तीन अङ्गोपाङ्गोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एक शरीर और एक अङ्गोपाङ्गका ही बन्ध होता है, अतः परस्परमें विरोधी होनेके कारण ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं। छः संस्थानोंमेंसे भी एक समयमें एक ही संस्थानका बन्ध होता है, अतः ये भी अध्रुवबन्धी हैं। मनुष्य और तिर्यञ्चके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर ही छह संहननोंमेंसे एक समयमें एकका बन्ध होता है और देव तथा नारकके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर एक भी संहनन नहीं बँधता, अतः संहनन भी अध्रुवबन्धी हैं। तथा, पाँच जातियों-

मूलकर्मोंमेंसे नामकर्मको छोड़कर गोत्रकी दो, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी सात और आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

अब बन्ध और उदयकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके भङ्ग बतलाते हैं—

भंगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

अर्थ—इन कर्मप्रकृतियोंमें अनादि अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और सादि सान्त, इस प्रकार चार भङ्ग होते हैं।

भावार्थ—क्रमानुसार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनानेके बाद, ध्रुवोदय प्रकृतियोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्धकी चर्चासे पाठकोंके हृदयमें यह जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक था कि कर्मबन्धकी कितनी दशाएँ होती हैं। उस उत्सुकताको निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने बन्धके भङ्गोंका कथन किया है। कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी होनेके कारण जैसे बन्धकी दशाएँ बतलानेका प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, उसी तरह आगे ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियोंको गिनानेके कारण उदयकी दशाएँ भी बतलाना आवश्यक था। अतः उक्त चारों भङ्गोंको बन्धमें भी लगा लेना चाहिये और उदयमें भी। अर्थात् बन्धमें भी उक्त चारों भङ्ग होते हैं और उदयमें भी। चारों भङ्गोंका स्पष्टीकरण क्रमसे इस प्रकार है—

अनादि अनन्त—जिस बन्ध या उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादि

---

१ पञ्चसंग्रह में कहा है—

"होइ अणाइ अणंतो अणाइसंतो य साइसंतो य ।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इइ तिविहो ॥ २१६ ॥"

अर्थ—बन्ध तीन प्रकारका होता है—अनादिअनन्त, अनादिसान्त और सादिसान्त। अभव्योंमें अनादिअनन्त बन्ध होता है, भव्योंमें अनादिसान्त बन्ध होता है और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत हुए जीवोंमें सादिसान्त बन्ध होता है।

कालसे बिना किसी रुकावटके चला आता है, मध्यमें न कभी व्युच्छिन्न हुआ और न आगे कभी होगा, उस बन्ध या उदयको अनादि-अनन्त कहते हैं। ऐसा बन्ध या उदय अभव्य जीवके ही होता है।

अनादि सान्त–जिस बन्ध अथवा उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादिकालसे बिना किसी रुकावटके चला आनेपर भी आगे व्युच्छिन्न हो जायगा, उसे अनादि-सान्त कहते हैं। यह भव्यके ही होता है।

सादि-अनन्त–यह भङ्ग किसी भी बन्ध या उदय प्रकृतिमें घटित नहीं होता, क्योंकि जो बन्ध अथवा उदय सादि होता है, वह कभी भी अनन्त नहीं हो सकता।

सादि सान्त–जो बन्ध अथवा उदय बीचमें रुककर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तरमें पुनः व्युच्छिन्न हो जाता है, उस बन्ध अथवा उदयको सादिसान्त कहते हैं।

अब ध्रुवबन्धिनी और ध्रुवोदयी प्रकृतियोंमें उक्त भङ्गोंको घटाते हैं—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइअवज्जभंगतिगं।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिअ भंगा ॥५॥

अर्थ–ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें पहला और दूसरा, अर्थात् अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त भङ्ग होता है। ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीसरे सादि-अनन्त भङ्गको छोड़कर बाकीके तीनों भङ्ग होते हैं। मिथ्यात्वप्रकृतिमें भी अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादिसान्त, ये तीन ही भङ्ग होते हैं। तथा, दोनों ही प्रकारकी अध्रुवप्रकृतियोंमें, अर्थात् अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयामें, केवल चतुर्थभङ्ग सादिसान्त ही होता है।

भावार्थ–चतुर्थ गाथाके उत्तरार्द्धमें अनादि-अनन्त आदि चार भङ्गोंका केवल निर्देश किया था। यहाँ बतलाया गया है कि उन चार भङ्गोंमेंसे किन किन प्रकृतियोंमें कौन कौन भङ्ग होते हैं? हम पहले लिख

आये हैं कि जैसे प्रकृतियोंके ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्धके कारण बन्धके भङ्ग बतलानेकी आवश्यकता हुई, उसी प्रकार आगे प्रकृतियोंके ध्रुव उदय और अध्रुव उदयका निर्देश किया जायगा, अतः उदयके भी भङ्ग बतलाना आवश्यक हुआ। इसके अनुसार तो ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियोंको गिनानेके बाद ही उदयप्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त आदि भङ्ग बतलाने चाहिये थे। किन्तु वैसा करनेसे कुछ पुनरुक्ति हो जानेकी सम्भावना थी और इसलिये ग्रन्थके विस्तारमें कुछ वृद्धि हो जानेका भय भी था। अतः सरलता और संक्षेपका विचार करके, उदय प्रकृतियोंकी गणना करनेसे पूर्व ही, बन्ध प्रकृतियोंके साथही साथ उदयप्रकृतियोंमें भी भङ्गोंका निर्देश कर दिया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन सत्ताईस ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें अभव्यजीवोंकी अपेक्षासे अनादि-अनन्त भङ्ग होता है, क्योंकि अभव्यजीवोंके ध्रुवोदयप्रकृतियोंके उदयका न तो आदिही है और न अन्तही होता है। तथा, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन चौदह प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक सभी जीवोंके अनादिकालसे है। किन्तु बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जब इन प्रकृतियोंके अनादि उदयका विच्छेद हो जाता है, तब इनका उदय अनादि-सान्त कहा जाता है। इसी प्रकार निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, शेष बची इन तेरह ध्रुवोदय प्रकृतियोंका अनादि उदय सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें व्युच्छिन्न हो जाता है, तब इनका उदय अनादि-सान्त कहलाता है। इस प्रकार ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें केवल दो ही भङ्ग घटित होते हैं—एक अनादि-अनन्त, जो अभव्यकी अपेक्षासे होता है, और दूसरा अनादि-सान्त, जो भव्यकी अपेक्षासे होता है। शेष दो भङ्ग—सादि-अनन्त और सादि-सान्त घटित नहीं होते हैं, क्योंकि

किसी प्रकृतिके उदयका विच्छेद होकर यदि पुनः उसका उदय होने लगता है तो वह उदय सादि कहा जाता है। किन्तु उक्त ध्रुवोदयप्रकृतियोंके उदयका विच्छेद बारहवें और तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और उन गुणस्थानोंमें पहुँच जानेके बाद कोई जीव नीचे नहीं आता, सभी मुक्त होजाते हैं, अतः उक्त प्रकृतियोंका सादि उदय नहीं होता, और इसलिये शेष दो भङ्ग भी नहीं होते।

ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीसरे भङ्गके सिवाय शेष तीन भङ्ग ही घटित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला भङ्ग अभव्यजीवोंकी अपेक्षा से होता है, क्योंकि अभव्यजीवके ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंका बन्ध अनादि अनन्त होता है। पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियोंके बन्धकी अनादि सन्तान जब दसवें गुणस्थानके अन्तमें व्युच्छिन्न होजाती है, तब दूसरा भङ्ग अनादि-सान्त घटित होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें उक्त चौदह प्रकृतियोंका बन्ध न करके, मरण होजानेके कारण अथवा ग्यारहवें गुणस्थानका समय पूरा होजानेके कारण, कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर, जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियोंका बन्ध करता है और दसवें गुणस्थानमें पहुँच कर पुनः उनकी बन्धव्युच्छित्ति करता है, तब चतुर्थ सादिसान्त भङ्ग घटित होता है।

संज्वलनकषायका अनादिकालसे बन्ध करने वाला कोई जीव नौवें गुणस्थानमें पहुँच कर जब उसके बन्धका निरोध करता है, तब दूसरा भङ्ग अनादिसान्त होता है। वही जीव नौवें गुणस्थानसे च्युत होकर जब पुनः संज्वलन कषायका बन्ध करता है और नौवें गुणस्थानमें पहुँच कर जब पुनः उसके बन्धका निरोध करता है, तब चौथा सादिसान्त भङ्ग होता है। निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, भय और जुगुप्सा, इन तेरह प्रकृतियोंका अनादि बन्ध जब आठवें गुणस्थानमें व्युच्छिन्न होता है, तब दूसरा अनादि-सान्त भङ्ग होता है।

आर आगे गुणस्थानसे गिरनेके पश्चात् जब पुनः उक्त प्रकृतियोंका सादिबंध होता है और कालान्तरमें आठवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर जब पुनः उनके बंधका विच्छेद हो जाता है, तब चौथा सादि-सान्त भङ्ग होता है। चारों प्रत्याख्यानावरण कषायोंका बंध पांचवें गुणस्थानतक अनादि है। छठे आदि गुणस्थानोंमें उनके बंधका अभाव हो जानेके कारण सान्त है। अतः दूसरा भङ्ग होता है। वहांसे गिरकर पुनः उनका बंध होने पर, जब पुनः छठे आदि गुण स्थानोंमें उनके बंधका अभाव होता है, तब चौथा भङ्ग होता है। चौथे गुणस्थानतक अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका अनादि बंध करके जब पाँचवें आदि गुणस्थानोंमें उसका अबंध करता है, तब दूसरा भङ्ग होता है। वहां से गिरकर पुनः उसका बंध करके जब पुनः पाँचवें आदि गुणस्थानोंमें उसका अबंध करता है, तब चौथा भङ्ग होता है। मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धि आदि तीन और अनन्तानुबंधीकषाय-का अनादिबंधक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जानेपर उनका बंध नहीं करता, तब दूसरा भङ्ग होता है। पुनः मिथ्यात्वमें गिरकर, उक्त प्रकृतियोंका बंध करके जब पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उनका बंध नहीं करता तब चौथा भङ्ग होता है। इस प्रकार ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीन भङ्ग होते हैं। तीसरा भङ्ग सादि-अनन्त नहीं होता है।

गाथाके प्रारम्भमें ही ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें दो भङ्ग बतलाये हैं। किन्तु मिथ्यात्व नामक ध्रुवोदयप्रकृतिमें तीन भङ्ग होते हैं। इसी बातको 'मिच्छम्मि तिन्नि भंगा' से बतलाया है। पहला अनादि अनन्त भङ्ग ... होता है, क्योंकि उनके मिथ्यात्वके उदयका अभाव न कभी हुआ और न होगा। दूसरा अनादिसान्त भङ्ग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके होता है, क्योंकि पहले पहल सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उसके मिथ्यात्वके उदय का अभाव हो जाता है। किन्तु सम्यक्त्वके छूट जानेके बाद, पुनः मिथ्यात्व-का उदय होनेसे, जब पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके कारण मिथ्यात्वके

उदयका अन्त होता है, तब तीसरा सादिसान्त भङ्ग घटित होता है। इस प्रकार ध्रुवोदयी मिथ्यात्वप्रकृतिमें तीन भङ्ग होते हैं, और शेष ध्रुवोदय-प्रकृतियोंमें दो भङ्ग होते हैं[1]।

अध्रुवोदयी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमें केवल एक सादिसान्त भङ्ग ही होता है, क्योंकि उनका बन्ध और उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नहीं होता। इस प्रकार बन्ध और उदय प्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त आदि भङ्गोंका क्रम जानना चाहिये।

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें प्रकृतिबन्धका निरूपण करते हुए बन्धके चार प्रकार बतलाये हैं—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। तथा उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"सादी अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादी हु।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ॥ १२३ ॥"

अर्थात्– बन्ध न होकर पुनः बन्धके होनेको सादिबन्ध कहते हैं। जिस गुणस्थान तक जिस कर्मका बन्ध होता है, उस गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानको यहाँ श्रेणी कहा है। उस श्रेणिमें जिस जीवने पैर नहीं रखा है, उसके उस प्रकृतिका अनादिबन्ध होता है। अभव्य जीवके ध्रुवबन्ध होता है और भव्यजीवके अध्रुवबन्ध होता है।"

इस परिभाषासे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने ध्रुवसे अनन्तका और अध्रुवसे सान्तका ग्रहण किया है। क्योंकि अभव्यका बन्ध अनन्त और भव्यका बन्ध सान्त होता है। आगे ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमें इन भङ्गोंको निम्न प्रकार बतलाया है—

"घातितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ।
सत्तेतालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥ १२४ ॥"

अर्थात्–"सैतालीस ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें उक्त चारों प्रकारके बन्ध होते हैं और शेष ७३ अध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें दो ही बन्ध–सादि और अध्रुव होते हैं।"

३ ध्रुवोदयद्वार

ध्रुवबंधिनी और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का तथा प्रसङ्गवश उन प्रकृतियों में सम्भव भङ्गों का कथन करके अब ध्रुवोदयप्रकृतियों को गिनाते हैं—

निमिण थिर-अथिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना।
नाण-तराय-दसण-मिच्छ धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

अर्थ—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्श-

---

कर्मग्रन्थ में ध्रुवबंधिप्रकृतियों में तीन भङ्ग बतलाये हैं और कर्मकाण्ड में चार किन्तु दोनों की आन्तरिक तुलना करनेपर दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि कर्मग्रन्थ में संयोगी भङ्ग बतलाये गये हैं, जैसे अनादि अनन्त, और कर्मकाण्ड में प्रत्येक यथा अनादि और ध्रुव। इसीलिये कर्मग्रन्थ में सादि अनन्त भङ्ग न बन सकने के कारण तीन ही भङ्ग बतलाये हैं क्योंकि प्रकृतियों में सब संयोगी भङ्ग नहीं बन सकते, परन्तु सब प्रत्येक भङ्ग बन जाते हैं। अध्रुवप्रकृतियों में कर्मग्रन्थ में केवल एक सादिसान्त भङ्ग ही बतलाया है और कर्मकाण्ड में दो—सादि और अध्रुव। किन्तु इसमें भी कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सादि और अध्रुव अर्थात् सान्त को मिलाकर एक सादिसान्त भङ्ग तैयार होता है और दोनों को अलग अलग गिननेसे ये दो हो जाते हैं।

इस प्रकार बन्धप्रकृतियों में तो कर्मकाण्ड में सादि आदि भङ्ग बतला दिये हैं किन्तु उदयप्रकृतियों में उनकी कोई चर्चा नहीं की गई है।

१ पञ्चसंग्रह में ध्रुवोदयप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—
निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं।
नाणंतरायदसगं दसणचउ मिच्छ निच्चुदया ॥ १५४ ॥"

नावरण और मिथ्यात्व, ये सत्ताइस प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं। अर्थात् अपने अपने उदयविच्छेदकाल तक इनका उदय बराबर बना रहता है।

भावार्थ—इस गाथामें ध्रुवोदयप्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं। कर्मोंकी उदयप्रकृतियाँ १२२ हैं। उनमें २७ प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं। उनमें निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण तथा वर्णादि चार, ये बारह ध्रुवोदयप्रकृतियाँ नामकर्मकी हैं। चारों गतिके जीवोंके इनका उदय सर्वदा रहता है। तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें इनके उदयका अन्त होता है। किन्तु वहाँ तक सभी जीवोंके इन बारह प्रकृतियोंका उदय रहता है। इसीसे इन्हें ध्रुवोदया कहते हैं। इनमें स्थिर, अस्थिर तथा शुभ और अशुभ ये चार प्रकृतियाँ विरोधिनी कही जाती हैं। किन्तु ये बन्धकी अपेक्षासे विरोधिनी हैं, उदयकी अपेक्षासे विरोधिनी नहीं हैं। स्थिर तथा अस्थिरका उदय एक साथ होता है, क्योंकि शरीरमें स्थिर नामकर्मके उदयसे हाड़ दाँत वगैरह स्थिर होते हैं और अस्थिर नामकर्मके उदयसे रुधिर, मूत्रादिक अस्थिर होते हैं। इसी प्रकार, शुभनाम कर्मके उदयसे मस्तक आदि शुभ अङ्ग होते हैं और अशुभनामकर्मके उदयसे पैर वगैरह अशुभ अङ्ग होते हैं। अतः उदयकी अपेक्षासे ये प्रकृतियाँ अविरोधिनी हैं।

---

१ कर्मकाण्डमें वैसे तो ध्रुवोदयप्रकृतियोंको नहीं गिनाया है, किन्तु नवप्रश्न चूलिका नामक अधिकारमें स्वोदयबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते समय ध्रुवोदयप्रकृतियोंका निर्देश करना पड़ा है, क्योंकि ध्रुवोदयप्रकृतियाँ ही स्वोदयबन्धिनी हैं। यथा—

"   मिच्छ सुहमस्स घादीओ ॥ ४०२ ॥
तेजदुग वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिण धुवउदया।"

अर्थात्—मिथ्यात्व, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें व्युच्छिन्न होनेवाली घातिकर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, स्थिर और शुभका युगल, अगुरुलघु, निर्माण, ये ध्रुवोदयप्रकृतियाँ स्वोदयबन्धिनी हैं। अर्थात् अपने उदयमें ही इनका बन्ध होता है।

यह प्रकृति भी अध्रुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। इनके उदयका विच्छेद होने पर भी पुनः उदय होने लगता है।

शङ्का–यदि अध्रुवोदयकी यही परिभाषा है तो मिथ्यात्वको भी अध्रुवोदय कहना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उसके उदयका विच्छेद होजाता है, और सम्यक्त्वके छूट जाने पर पुनः उसका उदय होने लगता है।

उत्तर–उदयके विच्छेदके न होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिके निमित्तसे जिन प्रकृतियोंका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है, उन्हें अध्रुवोदया कहते हैं। जैसे, बारहवें गुणस्थान तक निद्राका उदय बतलाया है। किन्तु उसका उदय सर्वदा नहीं होता। परन्तु मिथ्यात्व कर्ममें यह बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका उदय केवल पहलेही गुणस्थानमें बतलाया है और वहाँ उसके उदयका प्रभाव एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता, अतः वह ध्रुवोदय ही है[1]।



यहाँ पूर्वकोटीपृथक्त्वसे तीन अथवा चार पूर्वकोटी लेना चाहिये, जैसा कि श्रीमलयाचार्य ने अपनी टीकामें लिखा है–

'त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पूर्वकोटिभिरधिकानीति शेष।'' पृ० ७८२।

१ कर्मप्रकृतिकी यशोविजयकृत टीकामें ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनाया है–पृ० १०।

५-६ ध्रुव-अध्रुवसत्ताकद्वार

पञ्चम और षष्ठ द्वारका एक साथ उद्घाटन करते हुए दो गाथाओं-से ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

तस-वन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगई-तिरिदुग नीयं धुवसंता सम्म मीस मणुयदुग ।
विउविक्कार जिणा-ऊ हारसगु-च्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥

अर्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये त्रसादिक बीस प्रकृतियाँ, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, ये वर्णादि बीस प्रकृतियाँ, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, तैजसतैजसबन्धन, तैजसकार्मणबन्धन, कार्मणकार्मणबन्धन, तैजससङ्घातन, कार्मणसङ्घातन, ये तैजसकार्मणसप्तक, वर्णचतुष्क, तैजस और कार्मणके सिवाय शेष इकतालीस ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, तीन वेद, आकृति-त्रिक अर्थात् ६ संस्थान, ६ संहनन और पाँच जाति, वेदनीय, हास्य रति और शोक अरतिके दो युगल, औदारिकशरीर, औदारिकअङ्गोपाङ्ग, औदारिकसङ्घात, औदारिकऔदारिकबन्धन, औदारिकतैजसबन्धन, औदारिककार्मणबन्धन, औदारिकतैजसकार्मणबन्धन, ये सात औदारिक प्रकृतियाँ, उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, ये उच्छ्वास आदि चार, दो विहायोगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, नीचगोत्र, ये एकसौ तीस प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं— सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके इनकी सत्ता रहती है। तथा, सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-सङ्घातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन, वैक्रि-

यतैजसनामबन्धन, ये वैक्रिय एकादश, जिननाम, चार आयु, आहारक शरीर, आहारकअङ्गोपाङ्ग, आहारकसङ्घातन, आहारकआहारकबन्धन आहारकतैजसबन्धन, आहारककार्मणबन्धन, आहारकतैजसकार्मणबन्धन, ये आहारकसप्तक, और उच्चगोत्र, ये अठाइस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।

भावार्थ—इन दो गाथाओंमें ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंकी गणनाकी है। जिसमें १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं और २८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं। दोनोंको जोड़ मिलकर १५८ होता है, जो पूर्वोक्त उदयप्रकृतियोंसे ३६ अधिक है। इस आधिक्यका कारण यह है कि बन्ध और उदय प्रकृतियोंमें नामकर्मकी प्रकृतियोंमेंसे कुछ प्रकृतियाँ परस्पर अन्तर्भूत करली जाती हैं। जैसे, बन्ध और उदयमें वर्णादि चार प्रकृतियों का ही समावेश किया जाता है और सत्तामें प्रत्येकके भेद लेकर उनकी बीस प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। इस प्रकार सोलह प्रकृतियाँ तो ये बढ़ जाती हैं। तथा, बन्ध और उदयमें बन्धननामकर्म और सङ्घातन नामकर्मकी प्रकृतियोंको पृथक्से न गिनकर शरीरनामकर्ममें ही उनका समावेश कर लेते हैं। बन्धन नामकर्मकी १५ प्रकृतियाँ हैं और सङ्घातन नामकर्मकी पाँच, इस प्रकार सत्तामें बीस प्रकृतियाँ ये बढ़ जाती हैं। सब मिलकर ३६ प्रकृतियाँ सत्तामें अधिक हो जाती हैं। इन १५८ प्रकृतियोंमेंसे १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि बन्ध और उदयमें ध्रुवबन्धिनी और ध्रुवउदयवाली प्रकृतियोंकी संख्या अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवउदयवाली प्रकृतियोंकी संख्यासे बहुत कम थी। किन्तु सत्तामें उनसे बिल्कुल विपरीत दशा है। इसका कारण यह है कि जिस समय किसी प्रकृतिका बन्ध हो रहा है उस समय उस प्रकृतिका उदय भी होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार जिस समय किसी प्रकृतिका उदय

१ कर्म प्रकृतियोंके भेदप्रभेदों और उनका स्वरूप जाननेके लिये इसी मण्डलसे प्रकाशित प्रथम कर्मग्रन्थ देखना चाहिये।

हो रहा है, उस समय उसका बंध भी होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रकृति बंधदशामें है और जिसका उदय हो रहा है, उन दोनोंकी ही सत्ताका होना आवश्यक है। अतः बंधदशावी और उदयदशावी प्रकृतियाँ सत्तामें रहती ही हैं। तथा, मिथ्यात्वदशामें जिनकी सत्ता नियमसे नहीं होती, ऐसी प्रकृतियाँ भी कम ही हैं। इन कारणोंसे ध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंकी संख्या अधिक है और अध्रुवसत्ताकाकी कम। अस्तु,

त्रसादि बीस, वर्णादि बीस और तैजसकार्मणसप्तककी सत्ता सभी संसारी जीवोंके रहती है, अतः ये ध्रुवसत्ताक हैं। सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियोंमेंसे वर्णचतुष्क और तैजस तथा कार्मणको इसलिये कमकर दिया है कि उन्हें गाथाके प्रारम्भमें ही अलगसे गिना दिया है। वैसे तो जो ध्रुवबंधिनी हैं वह ध्रुवसत्ताका होना ही चाहिये, क्योंकि जिनका बंध सर्वदा होता है उनकी सत्ता सर्वदा क्यों न रहेगी? तीनों वेदोंका बंध और उदय अध्रुव बतलाया था किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है, क्योंकि वेदोंका बंध बारी बारीसे होता रहता है। आकृतित्रिक अर्थात् संस्थान संहनन, और जाति भी पूर्ववत् ध्रुवसत्ताक हैं। परस्परमें दलोंकी संक्रान्ति होनेकी अपेक्षासे वेदनीयद्विक ध्रुवसत्ताक है। हास्य, रति और अरति शोककी सत्ता नौवें गुणस्थान तक सभी जीवोंके होता है। औदारिकसप्तककी सत्ता भी सर्वदा रहती है, क्योंकि मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें इनका उदय रहता है और देवगति तथा नरकगतिमें इनका बंध होता है। इसी प्रकार उच्छ्वास आदि चार, विहायोगतिका युगल, तिर्यग्द्विक और नीचगोत्रकी भी सत्ता सर्वदा रहती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके ये प्रकृतियाँ सर्वदा रहती हैं, इसीसे इन्हें ध्रुवसत्तावाली कहा जाता है।

शङ्का–अनन्तानुबंधीकषायका उद्वलन हो जाता है अतः उसे भी अध्रुवसत्ताक मानना चाहिये।

उत्तर–सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही अनन्तानुबंधी कषायका उद्वलन होता

है, और अध्रुवसत्ताकत्वका विचार उन्हीं जीवोंकी अपेक्षासे किया जाता है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंको प्राप्त नहीं किया है। अत अनन्तानुबन्धीको ध्रुवसत्ताक ही मानना चाहिये। यदि उत्तरगुणोंकी प्राप्तिकी अपेक्षासे अध्रुवसत्ताकत्वको माना जायगा, तो केवल अनन्तानुबन्धी कषाय ही अध्रुवसत्ताक नहीं ठहरेगा, बल्कि सभी प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताक कहलायेंगी, क्योंकि उत्तरगुणोंके होनेपर सभी प्रकृतियाँ अपने अपने योग्यस्थान में सत्ता से विच्छिन्न हो जाती हैं।

शेष अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताकी हैं, क्योंकि सम्यक्त्व और

१ कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें, पृष्ठ १० पर ध्रुवसत्ताक प्रकृतियाँ तो १३० ही बतलाई हैं किन्तु अध्रुवसत्ताक १८ बतलाई हैं। इसका कारण यह है कि उसमें वैक्रिय एकादशके स्थानमें वैक्रियषट्क ही लिया गया है और आहारक सप्तकके स्थानमें आहारकद्विक लिया है। इस प्रकार वैक्रियसंघातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन, वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन, आहारकसंघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन, आहारककार्मणबन्धन और आहारकतैजसकार्मणबन्धन इन दस प्रकृतियोंको सत्तामें सम्मिलित नहीं किया है। इसपर कर्मप्रकृतिमें एक टिप्पणी है, जिसका आशय है कि पञ्चसङ्ग्रहके तृतीयद्वार की ३३ वीं गाथाके चतुर्थपादमें 'अट्ठारस अधुवसत्ताओ' आया है। उसीके आधारपर उपाध्यायजीने १८ अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ बतलाई हैं। किन्तु मलयगिरिकी वृत्तिमें गर्गर्षिके मतानुसार १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताक भी हैं। उसका अनुसरण करके उपाध्यायजीने भी १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका बतलाई हैं।

पञ्चसङ्ग्रह में १८ अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको इसप्रकार गिनाया है–

"उच्च तित्थ सम्म मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि।
मणुदुग आहारदुगं अट्ठारस अधुवसत्ताओ ॥ ३३ ॥"

अर्थात्–उच्चगोत्र, तीर्थङ्कर सम्यक्त्व, मिश्र, वैक्रियषट्क, चारों आयु,

मिश्रकी सत्ता अभव्योंके तो होती ही नहीं, किन्तु बहुतसे भव्योंके भी नहीं होता है। तथा, तेजकाय और वायुकायके जीव मनुष्यद्विककी उद्वलना कर देते हैं, अतः मनुष्यद्विककी सत्ता उनके नहीं होती है। वैक्रिय आदि ग्यारह प्रकृतियोंकी सत्ता अनादि निगोदिया जीवके नहीं होती, तथा जो जीव उन का बंध करके एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलन कर देते हैं, उनके भी नहीं होती है। तथा, सम्यक्त्वके होते हुए भी जिननाम किसीके होता है और किसीके नहीं होता है। तथा, स्थावरोंके देवायु और नरकायुका, अहमिन्द्रोंके तिर्यगायुका, तेजकाय, वायुकाय और सप्तमनरकके नारकियोंके मनुष्यायुका, सर्वथा बंध न होनेके कारण उनकी सत्ता नहीं है। तथा, संयमके होनेपर भी आहारकचतुष्क किसीके होते हैं और किसीके नहीं होते। तथा उच्चगोत्र भी अनादि निगोदिया जीवोंके नहीं होता, उद्वलन हो जानेपर तेजकाय और वायुकायके भी नहीं होता। अतः ये अट्ठाइस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।

अब तीन गाथाओंके द्वारा, गुणस्थानोंमें कुछ प्रकृतियोंकी ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते हैं—

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

अर्थ—आदिके तीन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वमोहनीयकी सत्ता अवश्य होती है। और असंयत सम्यग्दृष्टि आदि लेकर आठ गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व-की सत्ता भजनीय है, अर्थात् किसीके होती है और किसीके नहीं होती। सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानमें सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता नियमसे होती है। किन्तु सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टि आदि दस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता 'वा' अर्थात् विकल्पसे होती है।

भावार्थ—इस गाथामें मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके

मनुष्यद्विक और आहारकद्विक, ये अठारह अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ हैं।

करनेमें समर्थ होते हैं। ये परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। ये क्रमशः होते हैं और इनमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। जब तक करणलब्धिकी समाप्ति होती है, तब तक जीवके प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। प्रथम यथाप्रवृत्तकरणमें वर्तमान जीव प्रशस्त प्रकृतियोंका प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभागबन्ध करता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका प्रतिसमय अनन्तवें भाग मात्र अनुभागबन्ध करता है। अर्थात् प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध उत्तरोत्तर अधिक अधिक होता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका हीन हीन होता जाता है। इसी प्रकार स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर हीन हीन होता जाता है। दूसरे अपूर्वकरणमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणाम होते हैं। और इस करणके पहले ही समयसे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और स्थितिबन्ध, ये चार नई बातें प्रारम्भ होती हैं। अर्थात् जिन प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बाँधी थी, अपवर्तना करणके द्वारा उनकी स्थिति कम करदी जाती है। इसी प्रकार अप्रशस्त प्रकृतियोंका जो अनुभाग बाँधा था उसके अनन्तवें भागको छोड़कर शेष अनन्त बहुभाग रसको अन्तर्मुहूर्तकाल में ही नष्टकर दिया जाता है। इस प्रकार स्थिति और रस, दोनोंका ही प्रतिसमय घात होता रहता है। ऐसा होनेसे, अपूर्वकरणके प्रथम समयमें किसी कर्मकी जितनी स्थिति होती है, उसके अन्तिम समयमें वह स्थिति संख्यातगुणी हीन हो जाती है, और रसकी भी यही दशा होती है। तथा, अपूर्वकरणके प्रारम्भ होते ही स्थितिबन्ध में भी नवीनता आजाती है। अर्थात् अपूर्वकरणसे पहले किसी प्रकृतिका जितना स्थितिबन्ध होता था, अपूर्वकरणके प्रथम समयमें ही उससे पल्यके संख्यातवेंभागहीन स्थितिबन्ध होता है। स्थितिघात और स्थिति-

१ इन करणोंका विशेष स्वरूप जानने के लिये देखो–कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहका उपशमनाकरण, तथा लब्धिसार गा० ३४–८९ और जीवकाण्ड गा० ४७–५७।

प्रथ एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और एक साथ ही समाप्त होते हैं। जिन प्रकृतियोंकी स्थितिका घात किया जाता है उनमें से दलिकोंको लेकर उनकी एक श्रेणी अर्थात् पंक्ति बनाई जाती है, जिसमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक पाये जाते हैं। अर्थात् उदयके प्रथम समयमें थोड़े, दूसरे समयमें असंख्यातगुणे, तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे, इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय हों, उतने समयोंमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। इसे ही गुणश्रेणिरचना कहते हैं। इस गुणश्रेणीरचनाके कारण प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी निर्जरा होती है।

तीसरे अनिवृत्तिकरणमें भी उक्त चारों बातें होती हैं। इस करणके कालमेंसे जब संख्यात बहुभाग बीत कर एक संख्यातवाँ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्वके नीचेकी अर्थात् उदय समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उदय आने योग्य कर्मदलिकोंको छोड़कर बाकी के दलिकोंमें अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है।

'आशय यह है कि मिथ्यात्वकी नीचेकी और ऊपरकी स्थितिके मध्य में से उतने दलिक उठाकर ऊपर और नीचेकी स्थिति में मिला देनेका नाम अन्तर करण है,' जितने दलिक एक अन्तर्मुहूर्तकाल में उदयमें आते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वकी नीचेकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिको त्याग त्याग छोड़कर ऊपरके उन दलिकोंको, जो आगेके अन्तर्मुहूर्तमें उदय आयेंगे, नीचेके या ऊपरके दलिकोंमें निक्षेपण कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालको ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई दलिक शेष नहीं रहता। इस प्रकार मिथ्यात्व की स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। इस अन्तर करणको दूसरे प्रकारसे या समझना चाहिये ________|___|____ यह एक लकीर है, इस

लकीरमें नीचेकी ओर दो निशान लगे हैं। यह निशान इस बातको बतलाते हैं कि इस लकीरके दोनों निशानोंके बीचका भाग वहाँसे हटाकर नीचे या ऊपरके भागमें मिला देना चाहिये और इस प्रकार उतने भागको खाली कर देना चाहिये। तब इस लकीरकी दशा इस प्रकार होगी________ ——।

इस प्रकार इस लकीरके बीचमें अन्तर पड़ जाता है। यदि हम नीचेकी ओरसे इस लकीरपर अंगुली फेरते हुए ऊपरकी ओर बढ़ें तो हमारी अंगुली कुछ समयतक लकीरपर रहकर फिर बिना लकीरवाले स्थानपर आ जायगी और क्षणभरमें उस स्थानसे निकलकर पुनः लकीरवाले स्थानपर आ जायगी। इस प्रकार क्षणभरके लिये हमारी अंगुलीको बिना लकीरके ही चलना होगा। इसी तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका ताँता एक अन्तर्मुहूर्तके लिये तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग कर दिये जाते हैं, नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथम स्थिति और द्वितीयस्थितिके बीचके उन दलिकोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय आनेवाले हैं, अन्तरकरणके द्वारा इधर उधर कर दिया जाता है। अर्थात् उन दलिकोंको अपने अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थितिमें डाल दिया जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वके दलिकोंसे रहित जो शुद्ध भूमि होती है, उसे अन्तरकरण कहते हैं। इस अन्तरकरणके लिये जो क्रिया की जाती है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिके दलिकोंको उठाकर उनको इधर उधर क्षेपण किया जाता है, तथा उस क्रियामें जो काल लगता है, उपचारसे उन्हें भी अन्तरकरण कह देते हैं।

इस क्रियाके पूर्ण होनेके बाद मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरी होते ही अन्तर्मुहूर्तकालके लिये मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व

क प्रकट होनेसे पहले संमयम अर्थात् मिथ्यात्वकी प्रथमस्थितिके अन्तिम

---

१ कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णि और पञ्चसंग्रहके रचयिताओंका मत है कि उपशमसम्यक्त्वके प्रकट होने से पहले अर्थात् मिथ्यात्वकी प्रथमस्थितिके अन्तिम समयमें द्वितीयस्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है। [देखो कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० १९ और पञ्चसंग्रह उपश० गा० २२] और लब्धिसारके कर्ताके मतसे जिस समय सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसी समय तीन पुञ्ज करता है। देखो-लब्धिसार गा० ८९।

मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करनेमें सैद्धान्तिकों और कर्मशास्त्रियोंमें बड़ा मौलिक मतभेद है। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतसे औपशमिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये तीन पुञ्ज करना आवश्यक नहीं है, तीन पुञ्ज किये बिना भी औपशमिकसम्यक्त्व हो सकता है। जैसा कि विशेषा० भा० की निम्नगाथा से स्पष्ट है—

"उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं।
जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥५२२॥"

अर्थात्-जो जीव उपशम श्रेणि चढ़ता है, उसके औपशमिक सम्यक्त्व होता है। तथा, जो अनादिमिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता और न मिथ्यात्वका क्षपण ही करता है, उसके भी औपशमिकसम्यक्त्व होता है।

विशेषा० भा० की गा० ५२० की टीकामें श्रीहेमचन्द्रसूरिने इस मतभेद का उल्लेख करते हुए लिखा है-' सैद्धान्तिकानां तावदेतत् मतं यदुत अनादिमिथ्यादृष्टिः कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुञ्जत्रयं कृत्वा शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन् औपशमिकं सम्यक्त्वमलब्ध्वैव प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति। अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्रमेणान्तरकरणे औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं त्वसौ न करोत्येव।

समयमें द्वितीय स्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वकर्मके दलिक अनुभागको तर

ततश्च औपशमिकसम्यक्त्वात् च्युतोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव गच्छति।
कार्मग्रन्थिकास्त्विदमेव मन्यन्ते यदुत सर्वोऽपि मिथ्यादृष्टिः प्रथमसम्य
क्त्वलाभकाले यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयपूर्वकमन्तरकरण करोति, तत्र चौप
शमिक सम्यक्त्व लभते, पुञ्जत्रय चासौ विदधात्येव। अत एव औप
शमिकसम्यक्त्वात् च्युतोऽसौ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि मिश्र मिथ्यादृष्टि
र्वा भवति ॥' इसका आशय इस प्रकार है–

सैद्धान्तिकोंका मत है कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उस प्रकारकी
सामग्रीके मिलनेपर अपूर्वकरणके द्वारा मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है और
शुद्धपुञ्ज अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभव न करता हुआ, औपशमिक
सम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना ही सबसे पहले क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको प्राप्त
रता है। तथा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों
क्रमसे करके अन्तरकरण करनेपर औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है,
न्तु वह मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता है। इसीसे औपशमिक सम्यक्त्व
छूट जानेपर वह जीव नियमसे मिथ्यात्वमें ही जाता है। किन्तु
शास्त्रियोंका मत है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके
यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते हुए अन्तरकरण करते हैं और
करनेपर उन्हें औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। ये जीव मिथ्या
तीन पुञ्ज अवश्य करते हैं। इसी लिये उनके मतसे औपशमिक
त्वके छूट जानेपर जीव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि
मिथ्यादृष्टि होता है।'

मतोंमेंसे दिगम्बर परम्परामें कर्मशास्त्रियोंका मत ही हमारे देखनेमें
। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तमताको लिये हुए तीन रूप हो जाते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिकोंको सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, अर्धशुद्ध दलिकको मिश्र या सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं और अशुद्ध दलिक मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथमोपशमसम्यक्त्वके माहात्म्यसे एक मिथ्यात्व-प्रकृति तीन रूप हो जाती है और ऐसा होनेसे अस्तित्व और उदय में दो प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। अस्तु,

---

१ कर्मकाण्डमें लिखा है—

"जन्तेण कोद्दव वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६ ॥"

अर्थात्—'जैसे चाकीमें दलनेसे कोदोंके तुष, चावल और कन, इस तरह तीन रूप हो जाते हैं। वैसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी भावयन्त्रके द्वारा एक मिथ्यात्वप्रकृतिका द्रव्य मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतिरूप हो जाता है। इन तीनोंका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यात गुणहीन होता है।'

२ "दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥" प्र० कर्मग्र०।

अर्थात्—'दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व। ये तीनों क्रमशः शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध होते हैं।' आशय यह है कि जैसे कोदों मद उत्पन्न करते हैं, किन्तु उन्हें पानी से धो डालने पर जो शुद्ध हो जाते हैं, वे मद नहीं करते, जो कम शुद्ध हो पाते हैं वे थोड़ा मद करते हैं, और जो अशुद्ध होते हैं, वे तो पूरे मादक होते ही हैं। उसी तरह मिथ्यात्वका जो द्रव्य भावोंके द्वारा शुद्ध हो जाता है, और सम्यक्त्वका घात करनेमें असमर्थ होता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। जो आधा शुद्ध होता है और इसलिये सम्यक्त्वको हानि पहुँचाता है, वह मिश्र कहाता है; और जो बिल्कुल अशुद्ध होता है और सम्यक्त्व को घातता है,

इस उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवली काल शेष रहने पर कोई कोई जीव सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करते हैं, उस समय उन जीवोंके मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ता अवश्य रहती है। इसीसे उक्त गाथामें द्वितीयगुणस्थानमें इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता नियमसे बतलाई है। तथा, उपशमसम्यक्त्वके अन्तमें उक्त तीनों पुञ्जोंमें से यदि मिथ्यात्वका उदय होता है, तो जीव पहले गुणस्थानमें चला जाता है और यदि सम्यक्मिथ्यात्वका उदय होता है तो उसके तीसरा गुणस्थान होजाता है। इस प्रकार पहले और तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी सत्ता अवश्य रहता है जैसा कि गाथाके पूर्वार्द्धमें बतलाया है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय आगेके आठ गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी सत्ता होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि यदि उन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वका क्षय कर दिया जाता है तो उसकी सत्ता नहीं रहती, और यदि मिथ्यात्वका उपशम किया जाता है तो उसकी सत्ता अवश्य रहती है। इसी प्रकार सास्वादनके सिवाय मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता होती भी है, और नहीं भी होती, क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थानमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके, जिसने कभी भी मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं किये, तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टिने सम्यक्त्व पुञ्जकी उद्वलना करदी है, उसके सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शे

१ 'उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स।
सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्मि छावलियं ॥ १२४ ॥' विशे० भा०
अर्थात्– उपशमसम्यक्त्वके कालमें अधिकसे अधिक ६ आवली शेष रह जाने पर, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके कारण उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर जब तक जीव मिथ्यात्वमें नहीं आता, तब तक मध्यमें ६ आवली के लिये सासादनसम्यग्दृष्टि होजाता है।'

मिथ्यादृष्टिजीवोंके उसकी सत्ता होती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थानमें सम्यक्त्वपुंजकी उद्वलना करके मिश्रगुणस्थानमें जानेवाले जीवके सम्यक्त्व-प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है । चौथे गुण-स्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी क्षायिकसम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, किन्तु क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टिके उसकी सत्ता अवश्य होती है ।

इस प्रकार इस गाथामें मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय-की सत्ताका विचार आदिके ग्यारह गुणस्थानोंमें किया गया है । क्योंकि अन्तके तीन गुणस्थानोंमें तो मोहनीय कर्मकी सत्ता ही नहीं रहती है ।।

सासणमीसेसु धुवं मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥१२॥

अर्थ—सास्वादन और मिश्रगुणस्थानमें मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नि-यमसे रहती है, और शेष मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता भजनीय है, अर्थात् किसी जीवके होती है और किसी जीवके नहीं होती । इसी प्रकार आदिके दो गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी कषायकी सत्ता नियम से रहती है, और शेष मिश्रगुणस्थानको आदि लेकर नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता भजनीय है ।

भावार्थ—इस गाथामें मिश्रप्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय-की सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है । इसमें बतलाया है कि दूसरे

---

१ कर्मप्रकृतिमें (सत्तास्वामित्व०) भी निम्न गाथाके द्वारा यही बात कही है जो कर्मग्रन्थ की उक्त गाथा में कही है-

"तिसु मिच्छत्तं नियमा अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं ।
आसाणे सम्मत्तं नियमा सम्मं दससु भज्जं ॥ ४ ॥"

२ नियमा स० पु० ।

और तीसरे गुणस्थानमें मिश्रप्रकृति अवश्य पाई जाती है, क्योंकि प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मिथ्यात्वके तीन पुंज हो जाते हैं, और उस सम्यक्त्वके कालमें जब कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक ६ आवली काल शेष रह जाता है, तब जीव सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। अतः उस समय उस जीवके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता अवश्य होती है। तथा मिश्रप्रकृतिकी सत्ता और उदयके बिना तीसरा गुणस्थान ही नहीं हो सकता, अतः तीसरे गुणस्थानमें भी मिश्रप्रकृतिकी ध्रुवसत्ता जाननी चाहिये। शेष पहले, चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानमें उसकी सत्ता अध्रुव होती है। क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीवने मिश्रप्रकृतिकी उद्वलना करदी है, उसके तथा अनादि मिथ्यादृष्टिके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष मिथ्यादृष्टि जीवोंके उसकी सत्ता होती है। इसी प्रकार चतुर्थ आदि आठ गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है। तथा, पहले और दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषायकी सत्ता ध्रुव होती है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध अवश्य होता है और जिसका बन्ध होता है उसकी सत्ता अवश्य होनी ही चाहिये। शेष तीसरे आदि नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता अध्रुव होती है। क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन कर दिया है, उसके अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है॥

---

१ अनन्तानुबन्धीकी सत्ताके बारेमें कर्मप्रकृति और कर्मग्रन्थमें थोड़ा अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें (सत्ताधि०) लिखा है–

'बिइयतइएसु मिस्सं नियमा ठाणनवगम्मि भयणिज्जं।
संजोयणा उ नियमा दुसु पंचसु होइ भइयव्वं॥ ५॥'

अर्थात्–'मिश्रप्रकृति दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नियमसे होती है और नौ गुणस्थानोंमें भजनीय है। दो गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी नियमसे

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे बितिगुणे तिणा तित्थं ।
नोभयसते मिच्छो अतमहुत्त भवे तित्थे ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि सभी गुणस्थानाम, आहारकशरीर, आहारक-अङ्गोपाङ्ग, आहारकसघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन आहारककार्मणबन्धन, और आहारकतैजसकार्मणबन्धन, इन सात प्रकृतिया-

---

होती है और पाच गुणस्थानोंमें भजनीय है।'

पञ्चसग्रहमें भी कर्मप्रकृतिके अनुसार सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीका विचार किया है। यथा—

'सासणमीसे भीस सत नियमेण नवसु भइयव्वं ।
सासायणत नियमा पचसु भज्जा अओ पढमा ॥ ३४२ ॥"

इस प्रकार कर्मप्रकृति और पञ्चसग्रहमें सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि कर्मग्रन्थमें ग्यारहवें गुणस्थान तक उसकी सत्ता मानी गई है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार आदि उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नहीं मानते, जब कि कर्मग्रन्थ वाले उसका सत्त्व स्वीकार करते हैं। कर्मप्रकृतिकारका मत है कि जो चारित्रमोहनीयके उपशम करनेका प्रयास करता है, वह अवश्य अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करता है।

कर्मशास्त्रियोंके इन मतभेदका उल्लेख कर्मकाण्डमें भी गा ३९१ के 'णत्थि अण उवसमगे' पदके द्वारा किया गया है। कर्मकाण्डके रचयिता ने दोनों मतोंको स्थान दिया है।

१ यह गाथा पञ्चसग्रहकी निम्न गाथाका स्मरण कराती है—
"सव्वाणवि आहार सासणमीसेयराण पुण तित्थ ।
उभये सति न मिच्छे तित्थगरे अतरमुहुत्त ॥ ३४८ ॥"

ता, जिह आहारकसप्तक कहते हैं, अस्तित्व विकल्पसे होता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानाेंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका सत्व भी विकल्पसे होता है। तीर्थङ्कर तथा आहारकसप्तकका अस्तित्व जिस जानके होता है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नहीं आता। तीर्थङ्करप्रकृतिकी सत्तावाला कोई जीव यदि मिथ्यात्वमें जाता है तो केवल अन्तर्मुहूर्तके ही लिये जाता है।

भावार्थ–इस गाथामें आहारकप्रकृति और तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका विचार गुणस्थानोंमें करते हुए बतलाया है कि ऐसा एक भी गुणस्थान नहीं है जिसमें आहारकनामकर्मकी सत्ता नियमसे होती हो। अर्थात् सभी गुणस्थानोंमें इसकी सत्ता अध्रुव होती है। इसका कारण यह है कि यह एक प्रशस्त प्रकृति है और इसका बंध कोई कोई विशुद्ध चरित्रके धारक अप्रमत्तसंयमी ही करते हैं। जब कोई उत्कृष्टतपस्वी आहारकसप्तकका बन्ध करके विशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा अविशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंसे नीचेके गुणस्थानोंमें जाता है, तब उसके सभी गुणस्थानोंमें आहारकसप्तककी सत्ता रहती है। किन्तु जो मुनि आहारकसप्तकका बन्ध किये बिना ही ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा ऊपरसे नीचेके गुणस्थानोंमें जाता है, उसके उन गुणस्थानोंमें आहारकसप्तककी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति सभी गुणस्थानोंमें विकल्पसे रहती है।

तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान-

१ आहारक और तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण बतलाते हुए पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ ॥ २०४ ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्करके बन्धमें सम्यक्त्व कारण है, और आहारकके बन्धमें संयम कारण है।

के छठवें भाग तक किसी किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीवके होता है। अतः इन गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करके जब कोई जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है तो उनमें तीर्थङ्करप्रकृति की सत्ता पाई जाती है। तथा यदि वह जीव अविशुद्ध परिणामोंके कारण नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तो मिथ्यात्वमें ही आता है, क्योंकि तीर्थङ्करकी सत्तावाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नहीं जाता। इस प्रकार दूसरे और तीसरे गुणस्थानको छोड़कर शेष बारह गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता रह सकती है। किन्तु यदि कोई जीव विशुद्ध सम्यक्त्वके होनेपर भी तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध नहीं करता, तो उसके सभी गुणस्थानोंमें उस प्रकृतिकी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें तो पाई ही नहीं जाती, और शेष गुणस्थानोंमें भी किसीके होती है और किसीके नहीं होती। इसलिये इसकी सत्ता अध्रुव जाननी चाहिये।

इस प्रकार इस गाथाके पूर्वार्द्धसे इस बातका तो निश्चय हो जाता है कि केवल आहारकसत्ताकी अथवा केवल तीर्थङ्करकी सत्ताके रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि हो सकता है। किन्तु यह शङ्का बनी ही रहती है कि दोनोंके अस्तित्वमें भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है या नहीं? उत्तरार्धमें इसका समाधान करनेके लिये लिखा है कि आहारकचतुष्क और तीर्थङ्करनामकी सत्ताके रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। अर्थात् जिस जीवके इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होती है, उसका पतन नहीं होता, और इसी लिये वह मिथ्यात्वगुणस्थानमें नहीं आता।

तथा, तीर्थङ्करकी सत्तावाला यदि मिथ्यात्वगुणस्थानमें आता है तो वहाँ वह अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहरता, क्योंकि उसे एक विशेष कारण से मिथ्यात्वमें आना पड़ता है, वह विशेष कारण यह है कि जो जीव पहले नरकायुका बन्ध करके, पीछे वेदकसम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करता है, वह मरणकाल आने पर सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्या-

दृष्टि हो जाता है, क्योंकि कर्मशास्त्रियोंके मतसे वेदकसम्यग्दृष्टि जीव नरक में जन्म नहीं लेता। इस प्रकार मिथ्यात्वदशामें नरकमें जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है। क्योंकि निकाचित तीर्थङ्कर नाम की सत्तावाला जीव अन्तर्मुहूर्तसे ज्यादा मिथ्यात्वमें नहीं रहता है। अतः तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव मिथ्यात्वगुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तके लिये ठहरता है।

---

१ आवश्यकचूर्णिकी टीकामें लिखा है– 'सम्यग्दृष्टेः सप्तमनरकगमन प्रतिषिद्धं षष्ठीमपि पृथिवीं यावत्, सैद्धान्तिकमतेन विराधितसम्यक्त्वो गृहीतनापि क्षायोपशमिकेन सम्यक्त्वेन कश्चिदुत्पद्यते। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ् मनुष्यो वा वान्तेनैव क्षायोपशमिकेनोत्पद्यते न गृहीतेन।' पृ० ४३।

अर्थात्– सम्यग्दृष्टिके सातवें नरकमें जानेका प्रतिषेध है। सैद्धान्तिकोंके मतसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेवाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करके छठे नरकतक उत्पन्न हो सकता है। किन्तु कर्मशास्त्रियोंके अभिप्रायसे तिर्यञ्च अथवा मनुष्य वैमानिक देवोंके सिवा अन्यत्र तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब उन्होंने क्षयोपशमिकसम्यक्त्वको छोड़ दिया हो। सम्यक्त्वको ग्रहण करके वे वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकते।'

दिगम्बर शास्त्रोंके अनुसार नरकमें सम्यग्दृष्टिका उत्पाद केवल पहले ही नरकतक हो सकता है।

२ कर्मप्रकृतिमें (सत्वाधि०) भी लिखा है—

"आहारगतित्थयरा भज्जा दुसु नत्थि तित्थयरं ॥ ९ ॥'

अर्थात्– आहारक और तीर्थङ्कर की सत्ता भजनीय है किन्तु दो गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता नहीं होती।

किन्तु कर्मकाण्डमें कुछ अन्तर है। गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंका सत्व

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतिद्वारका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने प्रसङ्गवश मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तीर्थङ्कर और आहारकसप्तककी सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है। एक सौ अट्ठावन प्रकृतियोंमें से इन पन्द्रह प्रकृतियों का ही विशेष विचार क्यों किया गया? यह प्रश्न स्वतसे पाठकोंके चित्तमें उत्पन्न हो सकता है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

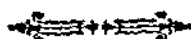
आगे कर्मप्रकृतियोंका प्रशस्त और अप्रशस्त रूपसे बँटवारा करेंगे। इन पन्द्रह कर्मप्रकृतियोंमें भी प्रारम्भकी सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं और शेष आठ प्रशस्त हैं। अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं और उनका जीवनके उत्थान और पतनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि जिसकी प्राप्ति पर जीवनका अंतिम ध्येय परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति निर्भर है, उस सम्यक्त्वगुणका घात उक्त सातों ही प्रकृतियाँ करती हैं। जबतक उनसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक जीव अपना वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। तथा उन सातोंके चले जानेपर कर्मोंकी सेना एकदम निर्बल और जीवनहीन हो

बतलाते हुए उसमें लिखा है—

'तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिये।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥ ३३३ ॥”

अर्थात्—'मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीर्थङ्कर और आहारक एक साथ नहीं रहते। सासादनमें दोनों न एक साथ ही रहते हैं और न पृथक् पृथक् ही। मिश्रमें तीर्थङ्करका सत्त्व नहीं होता, क्योंकि उन प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवोंके मिथ्यात्व आदि गुणस्थान ही नहीं होते हैं।' यहां सासादनमें आहारकका भी सत्त्व स्वीकार नहीं किया है, जब कि कर्मग्रन्थमें स्वीकार किया है। कर्मकाण्ड गा० ३७२ से यह स्पष्ट है कि सासादनमें आहारककी सत्ताको लेकर कर्मशास्त्रियोंमें मत भेद है। एक पक्ष उसमें आहारककी सत्ता स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष उसका सत्त्व स्वीकार नहीं करता है।

जाती है, अतः उक्त सात प्रकृतियाँ सभी प्रकृतियोंकी सिरमौर हैं। जैसे अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं, उसी तरह प्रशस्त प्रकृतियोंमें आहारकसप्तक और तीर्थङ्करप्रकृति प्रधान हैं। आहारकसप्तकका बन्ध विरले ही तपस्वियोंके होता है और तीर्थङ्करप्रकृति तो उससे भी विरले इने गिने नररत्नोंके बँधती है। पूर्वजन्ममें इसका बन्ध करके ही भगवान महावीर सरीखे महापुरुष तीर्थङ्कर होते हैं। अतः ग्रन्थकारने प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियोंकी सिरमौर उक्त पन्द्रह प्रकृतियोंका ही विवेचन किया है। और इस विवेचनके साथ ही साथ पाँचवाँ और छठा द्वार समाप्त होता है।



७-८. घाति अघातिद्वार

अब सप्तम सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वार और अष्टम अघातिप्रकृतिद्वारका वर्णन करते हुए घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं:—

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छं ति सव्वघाई चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँचों निद्रा, आदिकी बारह

१–इओ स० पु०। २–णुट्ठा–स० पु०।

३ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि।

४ अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया, लोभ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया लोभ, और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभ।

कषाय, और मिथ्यात्व, ये प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। तथा चार[1] ज्ञानावरण तीन[2] दर्शनावरण संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, नव[3] नोकषाय, और पाँच अन्तराय, ये प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ[4], शरीर आदि आठ[5], चार आयु, त्रस आदि बीस, नीच और उच्च गोत्र, सात-वेदनीय और असातवेदनीय, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये प्रकृतियाँ अघातिनी हैं।

भावार्थ—इन गाथाओंमें घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। आठ कर्मोंमेंसे चार घातिकर्म हैं और चार अघातिकर्म हैं। घातिकर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ घातिनी कहलाती हैं और अघातिकर्मों की अघातिनी। जो प्रकृतियाँ आत्माके गुणोंका घात करती हैं वे घातिनी कहलाती हैं और जो उनका घात करनेमें असमर्थ हैं, वे अघातिनी कहलाती हैं। घातिप्रकृतियोंमें भी दो प्रकार हैं। उनमें कुछ प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं और कुछ देशघातिनी हैं। जो सर्वघातिनी हैं, वे आत्माके गुणोंको पूरी तरहसे घातती हैं, अर्थात् उनका उदय होते हुए कोई आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो सकता। उक्त गाथामें बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी बतलाई हैं, जिनका खुलासा इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्माके केवलज्ञानगुणको पूरी तरह आवृत करता है। किन्तु जिस प्रकार मेघपटलके द्वारा सूर्यके पूरी तरह आच्छादित होनेपर भी उसकी प्रभाका कुछ अंश अनावृत ही रहता है, उसी प्रकार सब जीवोंके केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। क्योंकि यदि

१ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण।

२ चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण।

३ हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीन वेद।

४ पराघात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर निर्माण और उपघात।

५ पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, ४ गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

केवलज्ञानावरण उस अनन्तवें भागको भी आवृत कर ले तो जीव और अजीव में कोई अन्तर ही न रह सकेगा, जैसे यदि मेघपटल सूर्यकी उस अवशिष्ट प्रभाको भी आच्छादित कर ले, जो दिन और रातमें अन्तर डालती है, तो वर्षाकालमें, दिन और रातमें कोई अन्तर ही न रह सकेगा। फिर भी जैसे मेघपटल सूर्यका सर्वात्मना आवारक कहलाता है, उसी तरह केवलज्ञानावरण केवलज्ञानका सर्वघाती कहा जाता है, क्योंकि उसके सर्वथा क्षय बिना केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

केवलदर्शनावरण केवलदर्शनको पूरी तरह घातता है, किन्तु फिर भी उसका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। शेष बातें केवलज्ञानावरणकी ही तरह समझ लेना चाहिये। पाँचों निद्राएँ भी वस्तुओंके सामान्य प्रतिभासको नहीं होने देती हैं अतः सर्वघातिनी हैं। सोते समय मनुष्यको जो थोड़ा बहुत ज्ञान रहता है, उसे प्रथम दृष्टान्तसे समझ लेना चाहिये। बारह कषायों-में से, अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वगुणका घात करती है, अप्रत्याख्या-नावरण कषाय देशचारित्रका घात करती है और प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वविरति चारित्रको घातती है। मिथ्यात्व भी सम्यक्त्वगुणका सर्वात्मना घात करता है। अतः ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं।

जो प्रकृति आत्माके गुणका एकदेशसे घातती है वह देशघातिनी कह-लाती है। मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण केवलज्ञानके उस अनन्तवें भागका एकदेशसे घात करते हैं, जो केवलज्ञानावरणसे अनावृत रह जाता

१ "पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं।
सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धीया वि न लहंति ॥१०८॥' आ० नि०।

२ 'बीयकसायाणुदये अप्पच्चक्खाण नामधेज्जाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरइं न उ लहंति ॥१०९॥' आ० नि०।

३ "तइयकसायाणुदये पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं।
देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति ॥११०॥ 'आ० नि०।

११ परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ—तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करती हैं। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समयमें चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

भोगान्तराय देशघाती है। तथा, वीर्यान्तराय भी देशघाती है, क्योंकि वीर्यान्तरायका उदय होते हुए भी सूक्ष्मनिगोदिया जीवके इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है, जिससे वह कर्म और नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण वगैरह करता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी तरतमताके कारण ही सूक्ष्म निगोदियासे लेकर बारहवें गुणस्थानतक जीवोंके वीर्यकी हीनाधिकता पाई जाती है। यदि वीर्यान्तराय सर्वघाती होता तो जीवके समस्त वीर्यको आवृत करके उसे जड़की तरह निश्चेष्ट कर देता। अतः यह भी देशघाती ही है। इस प्रकार पचीस प्रकृतियाँ देशघातिनी जाननी चाहिये।

डेढ़ गाथाके द्वारा सर्वदेशघातिद्वारका निरूपण करके अर्धगाथाके द्वारा उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारका कथन करते हुए अघातिप्रकृतियोंको गिनाया

---

१ कर्मकाण्ड गा० ३९-४० में सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। कर्मग्रन्थ और कर्मकाण्डकी गणनामें केवल एक एक प्रकृतिका अन्तर है। कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियाँ २१ और देशघातिप्रकृतियाँ २६ है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धप्रकृतियोंकी लेकर सर्वघाती और देशघातीका विभाग किया है और कर्मकाण्डमें उदयप्रकृतियोंकी सख्याको लेकर उक्त विभाग किया है। यह हम बतला आये हैं कि बन्ध और उदयमें दो प्रकृतियोंका अन्तर है। बन्धप्रकृतियाँ १२० है और उदयप्रकृतियाँ १२२। क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्ध नहीं होता, किन्तु उदय होता है और घातित्व तथा अघातित्वका सम्बन्ध उदयके ही साथ है। अतः कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति और देशघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्त्वप्रकृति बढ़गई है।

पञ्चसंग्रह गा० १३५ में सर्वघाती तथा गा० १३७ में देशघातीप्रकृतियों को गिनाया है, जिनकी सख्या क्रमशः २१ और २५ है, जैसा कि कर्मग्रन्थ में बतलाया है।

है। अघातिप्रकृतियोंकी संख्या ७५ है। ये प्रकृतियाँ आत्माके ज्ञानादिकगुणा- का घात नहीं करतीं, अतः अघातिनी कहलाती हैं।



९-१०. पुण्य-पापद्वार

सर्वदेशघातिद्वार और उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारको बन्द करके अब पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

सुर-नर-तिगुच्च-साय तसदस तणु-वग-वइर-चउरंस ।
परघासग तिरिआउ वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥१५॥
बायालपुन्नपगई, अपढमसंठाण-खगइ-संघयणा ।
तिरियदुग असाय नीउँ-वघाय इगविगल निरयतिग ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

अर्थ—सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), नरत्रिक (नरगति, नरानुपूर्वी, नरायु), उच्चगोत्र, सातवेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघातसप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, तिर्यगायु), वर्णचतुष्क, पञ्चेन्द्रियजाति, प्रशस्त विहायोगति, ये बयालीस पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

तथा, पहलेको छोड़कर शेष पाँच संस्थान और पाँच संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, असातवेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय, नरकत्रिक (नरकगति, नर-

---

१-रिउ—स० पु०।   २ नीयोव—स० पु०।

आनुपूर्वी, नरकायु) स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), वर्णचतुष्क और पन्द्रह घातिप्रकृतियाँ, ये बयासी पापप्रकृतियाँ हैं। वर्णचतुष्क शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। इसलिये उन्हें पुण्यप्रकृतियोंमें भी गिना जाता है और पापप्रकृतियोंमें भी गिना जाता है।

भावार्थ–इससे पहले सातवें और आठवें द्वारमें बन्धप्रकृतियोंकी घातिनी और अघातिनीके भेदसे परिगणना की थी। यहाँ नवम और दशम द्वारमें पुण्य और पापमें विभाजन किया गया है। जिस प्रकृतिका रस आनन्ददायक होता है, वह पुण्यप्रकृति कहलाती है। और जिस प्रकृतिका रस दुःखदायक होता है, वह पापप्रकृति कही जाती है। पुण्यप्रकृतिको शुभ प्रकृति अथवा प्रशस्त प्रकृति भी कहते हैं और पापप्रकृतिको अशुभ प्रकृति अथवा अप्रशस्तप्रकृति भी कहते हैं। घातिनी और अघातिनीप्रकृतियोंमेंसे घातिनी प्रकृतियाँ तो पापप्रकृतियाँ हैं ही, क्योंकि वे खास आत्माके ही गुणोंको क्षति पहुँचाती हैं। किन्तु अघातिप्रकृतियोंमेंसे भी तेतीस प्रकृतियाँ तो पापप्रकृतियाँ ही हैं, और चार प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो पापप्रकृतियोंमें भी सम्मिलित हैं और पुण्यप्रकृतियोंमें भी सम्मिलित हैं। क्योंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। इसलिये इन्हें दोनोंमें गिना जाता है। शेष अड़तीस प्रकृतियाँ केवल पुण्यप्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार बयालिस पुण्यप्रकृतियाँ और बयासी पापप्रकृतियाँ मिलकर एक सौ चौबीस होती हैं, जब कि बन्धप्रकृतियाँ केवल एक सौ बीस ही बतलाई हैं। इन चार प्रकृतियोंकी वृद्धिका कारण बतलानेके ही लिये ग्रन्थकारने लिखा है कि वर्णादिका ग्रहण दोनोंमें किया है, क्योंकि वे शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं।

१ पञ्चसंग्रह (गा० १३९–१४०) में अप्रशस्त और प्रशस्तप्रकृतियोंको गिनाया है। कर्मप्रकृतिकी उ० यशोविजयजीकृत टीका (बन्धन० पृ० १२५०) में भी इन प्रकृतियोंको गिनाया है।

इसप्रकार पुण्य-पापद्वारका वर्णन समाप्त होता है।

१२ अपरावर्तमानद्वार

पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारको बन्द करके जब ग्यारहवें परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्‌घाटन क्रमप्राप्त था किन्तु अपरावर्तमानप्रकृतियोंकी

१ कर्मकाण्डकी गाथा ४१-४२ में पुण्यप्रकृतियाँ और ४३-४४ में पापप्रकृतियाँ गिनाई हैं। दोनों ग्रन्थोंकी गणनाओंमें कोई अन्तर नहीं है। कर्मकाण्डमें केवल इतनी विशेषता है कि उसमें भेदविवक्षामें ६८ और अभेदविवक्षामें ४२ पुण्यप्रकृतियाँ बतलाई हैं। तथा पापप्रकृतियाँ बन्धदशामें भेदविवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ बतलाई हैं और उदयदशामें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वको मिलाकर, भेदविवक्षासे १०० और अभेदविवक्षासे ८४ बतलाई हैं। पांच बन्धन, पांच संघात और वर्ण आदि बीसमें से १६, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पुण्यप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है और वर्ण आदि बीसमें से १६ प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पापप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है। बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्मके ये दो भेद किये हैं-कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म। जिसका विपाक इष्ट होता है, उसे कुशलकर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनिष्ट होता है, उसे अकुशलकर्म कहते हैं। इसी तरह जो सुखका वेदन कराता है वह पुण्यकर्म है और जो दुःखका वेदन कराता है वह अपुण्यकर्म है। यथा-"कुशलं कर्म क्षेमम्, इष्टविपाकत्वात्, अकुशलं कर्म अक्षेमम्, अनिष्टविपाकत्वात्।" 'पुण्यं कर्म सुखवेदनीयम्, अपुण्यं कर्म दुःखवेदनीयम्।"

(अभिधर्म० व्या० पृ० १०१)

योगदर्शनमें भी पुण्य और पाप [illegible] है। यथा-'कर्माशय पुण्यापुण्यरूप।' (पृ० १६२)

संख्या अल्प होनेके कारण पहले अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

नामधुवबंधिनवगं दंसण-पणनाण विग्घ-परघायं ।
भय-कुच्छ मिच्छ-सासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

अर्थ—नामकर्मकी नौ ध्रुवबंधिप्रकृतियाँ, चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थङ्कर, ये उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियाँ हैं ।

भावार्थ—इस गाथामें उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । अर्थात् ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनोंको रोककर अपना बंध, उदय अथवा दोनों नहीं करती हैं । जैसे मिथ्यात्वका बंध और उदय किसी अन्य प्रकृतिके बंध अथवा उदयको रोक कर नहीं होता । अतः यह अपरावर्तमानप्रकृति है । शायद कोई कहे कि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमें मिथ्यात्वका उदय नहीं होता, अतः ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके उदयकी विरोधिनी हैं । ऐसी दशामें उसे अपरावर्तमान क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वका बंध और उदय पहले गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहाँ मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय नहीं है । यदि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें रहकर [illegible] उदयको रोकतीं और स्वयं उदयमें आतीं तो ये विरोधिनी कही जा सकती थीं । किन्तु इनका उदयस्थान भिन्न भिन्न है, एक ही गुणस्थानमें रहकर ये एक दूसरेके बंध अथवा उदयका विरोध नहीं करतीं । अतः इन्हें अपरावर्तमान ही जानना चाहिये । इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझना चाहिये ।

---

१ वर्णचतुष्क तैजस कार्मण अगुरुलघु निर्माण और उपघात ।
२ पञ्चसंग्रहमें (गाथा १३८) अपरावर्तमान प्रकृतियोंको गिनाया है ।

११ परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ—तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि[1] आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करता है। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समयमें चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

---

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

दशाओंमें परस्परमें विरोधिनी हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इसप्रकार ग्यारहवें द्वारका वर्णन जानना चाहिये। बारहवें अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका वर्णन पहले ही कर चुके हैं। अतः ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट बारह द्वारोंका वर्णन यहाँ समाप्त होता है।



१३ क्षेत्रविपाकिद्वार

२विशिष्ट अथवा विविध प्रकारसे फल देनेकी शक्तिको विपाक कहते हैं। विपाकका आशय रसोदयका है। अर्थात् फल देनेके अभिमुख होनेको विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब पककर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है, उसीतरह कर्मप्रकृतियाँ भी जब अपना फल देनेके अभिमुख होती हैं, तब उनका विपाककाल समझना चाहिये। इस विपाक अर्थात्

१ ध्रुवबन्धिद्वार, अध्रुवबन्धिद्वार, ध्रुवोदयद्वार, अध्रुवोदयद्वार, ध्रुवसत्ताकद्वार, अध्रुवसत्ताकद्वार, सर्वदेशघातिद्वार, अघातिद्वार, पुण्यप्रकृतिद्वार, पापप्रकृतिद्वार, परावर्तमानद्वार, अपरावर्तमानद्वार। कर्मप्रकृति (बन्धनकरण, गा० १) की यशोविजयकृत टीकामें इन बारहों ही द्वारोंका कथन है।

२ पञ्चसंग्रहमें विपाकके दो भेद किये हैं-एक हेतुविपाक और दूसरा रसविपाक।

यथा-'दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ।
एक्केक्कावि य चउहा जओ चसद्दो विगप्पेण ॥ १६२ ॥'

अर्थात्-विपाककी अपेक्षासे प्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं-हेतुविपाका और रसविपाका। तथा प्रत्येकके चार चार भेद होते हैं-हेतुविपाकाके पुद्गलविपाका, क्षेत्रविपाका, भवविपाका और जीवविपाका, तथा रसविपाकाके चतुःस्थानकरसा, त्रिस्थानकरसा, द्विस्थानकरसा और एकस्थानकरसा।

रसोदयके चार प्रमुख स्थान हैं—एक क्षेत्र, दूसरा जीव, तीसरा भव और चौथा पुद्गल। तेरहवें द्वारमें इनमेंसे पहले क्षेत्रविपाकप्रकृतियाको कहते हैं—

खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥

अर्थ—नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी, ये चार प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकिनी हैं।

भावार्थ—आकाशको क्षेत्र कहते हैं।[1] जिन प्रकृतियोंका उदय क्षेत्रमें ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं। चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी हैं, क्योंकि उन चारोंका उदय विग्रहगतिमें ही होता है। सारांश यह है कि यों तो सभी प्रकृतियोंका उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे लेकर होता है। किन्तु यहाँ क्षेत्रकी मुख्यता है, क्योंकि जब जीव परभवके लिये गमन करता है, तो आनुपूर्वीका उदय उसे उसीतरह उत्पत्तिस्थानके अभिमुख

---

१ 'जा जं समेच्च हेउं विवाग उदयं उवेंति पगईओ ।
　ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइं सुगमाइं ॥१६३॥' पञ्चसंग्रह ।

अर्थात्—जो प्रकृति जिस हेतुको निमित्त लेकर उदयमें आती है, उसका नाम उसी विपाकसे कहा जाता है।

२–व्वीओ ख० पु०।

३ आनुपूर्वीके स्वरूपको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मौलिक मतभेद है, यद्यपि दोनोंही उसे क्षेत्रविपाकी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब जीव जाता है, तो आनुपूर्वीनामकर्म श्रेणिके अनुसार गमन करते हुए उस जीवको उसके विश्रेणिमें स्थित उत्पत्तिस्थानतक ले जाता है, इसीसे आनुपूर्वीका उदय केवल वक्रगतिमें ही माना गया है। यथा "पुव्वी उदओ वक्के"। प्र० कर्मग्र० गा० ४२।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें आनुपूर्वी नामकर्म पहला शरीर छोड़नेके

रखता है, जैसे नाथ बैलको उसके गन्तव्यस्थानके अभिमुख रखती है। अतः आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी है।



१४-१५ जीव और भवविपाकिद्वार

अब क्रमशः जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को कहते हैं—

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

अर्थ—घातिकर्मोंकी प्रकृतियां सैंतालीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थङ्कर, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त) और इनसे इतरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभगचतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भगचतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), उच्छ्वास और जातित्रिक (पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति), ये अठत्तर प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी हैं। चारों आयु भवविपाकिनी हैं।

और नया शरीर धारण करनेसे पहले, अर्थात् विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्वशरीरके समान बनाये रखता है। और इसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियोंमें होता है। आनुपूर्वीके भवविपाकी होनेमें एक शङ्का और उसका समाधान निम्न प्रकार है—

"अणुपुव्वीण उदओ किं संकमणेण नत्थि सव्वेर्सि ।
जह खत्तहेउओ ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥१६६॥" पञ्चसं०।

शङ्का—विग्रहगतिके बिना भी संक्रमणके द्वारा आनुपूर्वीका उदय होता है अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गतिकी तरह जीवविपाकी क्यों नहीं माना जाता? **उत्तर**—संक्रमणके द्वारा विग्रहगतिके बिना भी, आनुपूर्वीका उदय होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्रकी प्रधानतासे विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृतिका नहीं होता।

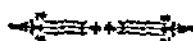
भावार्थ—इस गाथामें जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियाँ को बतलाया है। जो प्रकृतियाँ जीवमें ही अपना फल देती हैं, अर्थात् जीवके ज्ञानादिस्वरूपका घात वगैरह करती हैं, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं। यद्यपि सभी प्रकृतियाँ किसी न किसी रूपसे जीवमें ही अपना फल देती हैं, जैसे, आयुका भवधारणरूप विपाक जीवमें ही होता है, क्योंकि आयुकर्मका उदय होनेपर जीवको ही भवधारण करना पड़ता है। तथा, क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणिके अनुसार गमनकरने रूप जीवके स्वभावको स्थिर रखती है। तथा, पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ भी जीवमें ऐसी शक्ति पैदा करती हैं, जिससे वह जीव अमुकप्रकारके ही पुद्गलोंको ग्रहण करता है। तथापि, क्षेत्रविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ क्षेत्र वगैरहकी मुख्यतासे अपना फल देती हैं, जब कि जीवविपाकिप्रकृतियाँ क्षेत्र आदिकी अपेक्षाके बिना ही जीवमें ही अपना साक्षात् फल देती हैं। जैसे, ज्ञानावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही अज्ञानी होता है, शरीर वगैरहमें उनका कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी तरह दर्शनावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही दर्शनगुणका घात होता है, सातवेदनीय और असातवेदनीयके उदयसे जीव ही सुखी और दुःखी होता है, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही सम्यक्त्व और चारित्रगुणका घात होता है, पाँच अन्तरायोंके उदयसे जीव ही दान वगैरह नहीं दे या ले सकता। अतः उक्त गाथामें गिनाई गई ७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी कही जाती हैं।

चारों आयु भवविपाकिनी हैं, क्योंकि परभवकी आयुका बन्ध होजाने पर भी, जबतक जीव वर्तमान भवको त्यागकर अपने योग्य भव प्राप्त नहीं करता तबतक आयुकर्मका उदय नहीं होता, अतः आयुकर्म भवविपाकी है।

शङ्का—आयुकर्मकी तरह गतिनामकर्म भी अपने योग्य भवके प्राप्त होनेपर

१ "आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभव जम्हा।
नो सव्वहावि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि ॥१६५॥" पञ्चस०।

ही उदयमें आता है, अतः उसे भवविपाकी क्यों नहीं कहा ? उत्तर—आयुकर्म और गतिकर्मके विपाकमें बहुत अन्तर है। आयुकर्म तो जिस भवके योग्य बाँधा जाता है नियमसे उसी भवमें अपना फल देता है। जैसे, मनुष्यायुका उदय मनुष्यभवमें ही हो सकता है, इतरभवमें नहीं हो सकता। अतः किसी भी भवके योग्य आयुकर्मका बन्ध हो जानेके पश्चात् जीवको उस भवमें अवश्य जन्म लेना पड़ता है। किन्तु गतिकर्ममें यह बात नहीं है, विभिन्न परभवोंके योग्य बंधी हुई गतियोंका उदय हो भवमें संक्रमण वगैरहके द्वारा उदय हो सकता है। जैसे, मोक्षगामी चरमशरीरी जीवके परभवके योग्य बँधी हुई गतियाँ उसी भवमें क्षय हो जाती हैं। अतः गतिनामकर्म भवका नियामक नहीं है, इसलिये वह भवविपाकी नहीं है। इस प्रकार चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ द्वार समाप्त होता है।



१६ पुद्‌गलविपाकिद्वार

अब सोलहवें द्वारमें पुद्‌गलविपाकिप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

[1]नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिग।
[2]पुग्गलविवागि

अर्थ—नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियाँ बारह, तनुचतुष्क (तीन शरीर, तीन उपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत आदि तीन, अर्थात् उद्योत, आतप और पराघात, ये छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्‌गलविपाकिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पुद्‌गलविपाकिनी प्रकृतियोंको गिनाया है।

---

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ तैजस, कार्मण और वर्णचतुष्क।

२ तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें आ जाते हैं।

शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें ही ये प्रकृतियाँ अपना फल देती हैं, अतः पुद्गलविपाकिनी हैं। जैसे, निर्माण नामकर्मके उदयसे शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें अङ्ग और उपाङ्गका नियमन होता है। स्थिर नामकर्मके उदयसे दांत आदि स्थिर, और अस्थिर नामकर्मके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर होते हैं। शुभ नामकर्मके उदयसे सिर आदि शुभ, और अशुभनामकर्मके उदयसे पैर आदि अशुभ अवयव बनते हैं। शरीरनामकर्मके उदयसे ग्रहीत पुद्गल शरीररूप परिणत होते हैं। अङ्गोपाङ्गके उदयसे शरीरमें अङ्ग और उपाङ्गका विभाग होता है। संस्थानकर्मके उदयसे शरीरका आकार विशेष बनता है। संहननकर्मके उदयसे अस्थियोंका बन्धनविशेष होता है। उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत, आतप वगैरह प्रकृतियाँ भी शरीररूप परिणत हुए पुद्गलोंमें ही अपना फल देती हैं। अतः ये सब पुद्गलविपाकिनी हैं।

शङ्का—रति और अरतिकर्म भी पुद्गलोंकी अपेक्षासे ही अपना फल देते हैं, क्योंकि कांटा वगैरहके लगनेपर अरतिका उदय होता है, और पुष्पमाला, चन्दन वगैरहका स्पर्श होनेपर रतिका उदय होता है। अतः इन्हें पुद्गलविपाकी क्यों नहीं बतलाया ?

उत्तर—कांटे वगैरहके न लगनेपर भी, प्रिय और अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्मरण वगैरहसे ही रति और अरति कर्मका विपाकोदय देखा जाता है। यतः वे दोनों पुद्गलके बिना भी उदय में आजाते हैं, अतः पुद्गलविपाकी नहीं हैं। इस प्रकार पुद्गलविपाकिप्रकृतिद्वारका निरूपण जानना चाहिये।

---

१ "अरइरईणं उदओ किस भवे पोग्गलाणि संपप्प।
अप्पुट्ठेहिवि किन्नो एव कोहाइयाणंपि ॥ १६४ ॥" पञ्चस०।

२ गो० कर्मकाण्डमें (गा० ४७-४९) भी विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है। दोनों ग्रन्थोंमें केवल इतनाही अन्तर है कि कर्मकाण्डमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ ६२ बतलाई हैं, जब कि कर्मग्रन्थमें उनकी संख्या ३६ है। इस अन्तरका

१७ प्रकृतिबन्धद्वार

विभिन्न प्रकृतिद्वारों का वर्णन समाप्त करके, अब बन्धद्वारों का वर्णन करते हुए सबसे पहले बन्धके भेद बतलाते हैं—

बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥ २१ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध।

भावार्थ—आत्मा और कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं। उसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, और प्रदेशबन्ध। रसबन्धका दूसरा नाम अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी है। दिगम्बर साहित्यमें दूसरा नाम अनुभागबन्ध ही विशेषतया प्रचलित है।[1] स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्धके समुदायको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। अर्थात् इस परिभाषाके अनुसार प्रकृतिबन्ध कोई स्वतन्त्र बन्ध नहीं है, किन्तु शेष तीन बन्धोंके समुदायका ही नाम है। दूसरी परिभाषाके अनुसार प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है, और उसके अनुसार जुदे जुदे कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है, वह प्रकृतिबन्ध कहलाता है। दिगम्बर साहित्यमें प्रकृतिबन्धकी यह दूसरी परिभाषा ही पाई जाती है।

कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धन और संघात प्रकृतियोंको छोड़ दिया है और वर्णचतुष्कमें वर्ण आदिके भेद नहीं गिने हैं, जो बीस होते हैं। इस प्रकार १०+१६=२६ प्रकृतियोंको कम करनेसे ६२+२६=३६ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। कर्मप्रकृति (बन्धनकरण, गा०१२) की उपाध्याय यशोविजयजीकृत टीकामें भी विपाकिप्रकृतियोंका वर्णन किया है। पञ्चसंग्रह गा० १४१-१४२ में विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है।

१ "ठिइबंधो दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं। ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ॥४३२॥" पञ्चसं०

जीवके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलोंमें, अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ रहनेके कालकी मर्यादाके होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपुद्गलोंमें फलदेनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको रसबन्ध कहते हैं। और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। साराश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फलदेनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिणाममें उनका जीवके साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातोंको ही चारबन्ध कहते हैं। इनमेसे स्वभाव अर्थात् प्रकृतिबन्ध और कर्मपरमाणुओंका अमुक संख्यामें जीवकेसाथ सम्बद्ध होना अर्थात् प्रदेशबन्ध तो जीवकी योगशक्तिपर निर्भर है। तथा स्थिति और फलदेनेकी शक्ति जीवके कषायभावोंपर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बन्धको प्राप्त कर्मपुद्गलोंका स्वभाव और परिमाण भी वैसाही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीवकी कषाय जैसी तीव्र या मन्द होगी, बन्धको प्राप्त परमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी। जीवकी योगशक्तिको हवा, कषायको चिपकनेवाली गाद और कर्मपरमाणुओंको रजकण की उपमा दी जाती है। जैसे हवाके चलते ही धूलिके कण उड़ उड़कर उन स्थानोंपर जमजाते हैं जहाँ कोई चिपकानेवाली वस्तु गाद वगैरह लगी होती है। इसी तरह जीवकी प्रत्येक शारीरिक, वाचनिक और मानसिकक्रियाके साथ कर्मपुद्गलोंका आत्मामें आश्रव होता है। जीवके सक्लेशपरिणामोंकी सहायता पाकर वे जीवके साथ बध जाते हैं। वायु तीव्र या मन्द जैसी होती है धूलि भी उसी परिमाणमें उड़ती है, तथा गाद वगैरह जितनी चिपकाहटवाली होती है धूलि भी उतनी ही स्थिरताके साथ वहा ठहर जाती है। इसीतरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्मपरमाणुओंकी सख्या भी उतनी

१ "पयडिपएसबधा जोगेहिं ... पञ्च०स।

ही अधिक होती है। तथा कषाय जितनी तीव्र होता है, कर्मपरमाणुओंमें उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभागबन्ध होता है। इस बन्धका स्वरूप समझनेके लिये मोदकका दृष्टान्त भी दिया जाता है। जैसे वायुनाशक वस्तुओंसे बना मोदक वायुको शान्त करता है, पित्तनाशकवस्तु ओंसे बना मोदक पित्तको शान्त करता है और कफनाशकवस्तुओंसे बना मोदक कफका नाश करता है। तथा कोई मोदक दो दिनतक खराब नहीं होता कोई मोदक एक सप्ताहतक खराब नहीं होता। किसीमें अधिक मीठा होता है, किसीमें कम मीठा होता है। कोई तोलाभर वजनका होता है, कोई छटाँकभरका होता है इत्यादि। इसीतरह कर्मोंमें भी किसीका स्वभाव ज्ञानको आच्छादन करना है, किसीका स्वभाव दर्शनका आच्छादन करना है। किसीकी तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है, किसीकी सत्तर कोड़ीकोड़ी सागरकी स्थिति है। किसीमें कम रस है किसीमें अधिक। किसीमें कम कर्मपरमाणु हैं, किसीमें अधिक कर्मपरमाणु हैं। इसप्रकार बन्धका स्वरूप समझना चाहिये।

उक्त चार बन्धोंमेंसे पहले प्रकृतिबन्धका वर्णन करते हुए, मूलप्रकृतिबन्धस्थान और उनमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध बतलाते हैं—

मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ॥२२॥

अर्थ—मूल प्रकृतियोंके आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छप्रकृतिक और एकप्रकृतिक, इस प्रकार चार बन्धस्थान होते हैं। तथा उन बन्धस्थानोंमें तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बन्ध होते हैं। किन्तु

---

१ "पयइट्ठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ॥२॥" प्र० कर्मग्र०।
२ अड—ख० पु०। ३ न ख० पु०।

अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

भावार्थ—एक जीवके एक समयमें जितने कर्मोंका बन्ध होता है, उनके समूहको एक बन्धस्थान कहते हैं। इस बन्धस्थानका विचार दो प्रकारसे किया जाता है—एक मूल प्रकृतियोंमें और दूसरे उन मूलप्रकृतियोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें। पहले बतला आये हैं कि मूलकर्म आठ हैं और उनकी बन्धप्रकृतियाँ एकसौ बीस हैं। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंके ही बन्धस्थान बतलाये हैं।

साधारणतया प्रत्येक जीवके आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्म प्रतिसमय बंधते हैं। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समयमें ही होता है। जब कोई जीव आयुकर्मका भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मोंका बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह ही कर्मोंका बन्ध होता है, क्योंकि आयुकर्म सातवें गुणस्थानतक ही बंधता है और मोहनीयकर्म नवें गुणस्थानतक ही बंधता है, आगे नहीं बंधता। दसवें गुणस्थानसे आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल एक सातवेदनीयकर्मका ही बन्ध होता है, शेष कर्मोंके बन्धका निरोध दसवें गुणस्थानमें ही होजाता है। इस प्रकार मूलप्रकृतियोंके चार ही बन्धस्थान होते हैं—आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक। अर्थात् कोई जीव एक समयमें आठकर्मोंका

---

१ "जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुम छण्हमेगस्स।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्ह नियट्टी मीस अनियट्टी ॥२०९॥" पञ्चसं०

अर्थात्—'अप्रमत्त गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मोंका बन्ध होता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध होता है, और उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। निवृत्तिकरण, मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुके बिना सात ही कर्मोंका बन्ध होता है।'

प्रथम समये गुणठाणें सात कर्म बांधे, तेने प्रथम समय भूयस्कार होय, तो ए चोथो भूयस्कार कम न कह्यो ? तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक बन्ध थी सातकर्म बन्ध करे तो पण बन्ध स्थानक सातनु एकज छे, ते भणी जुदो न लेख्यो, बन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार लखवाय।"

अर्थात्—"यहाँ कोई पूछता है कि उपशमश्रेणीके ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुक्षय होनेपर मरण करके कोई जीव अनुत्तर विमानमें देव होता है। वहाँ वह प्रथम समयमें चौथे गुणस्थानमें सात कर्मोंका बंध करता है, अतः उसके प्रथम समयमें भूयस्कार होता है तो यह चौथा भूयस्कार क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि जो एकको बाँधकर सातकर्मका बंध करता है, तो बन्धस्थान सातका ही रहता है, इसलिये इसे जुदा नहीं लिखा है। यदि बन्धस्थानका भेद होता तो जुदा भूयस्कार लिखा जाता।"

इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारोंमें छहको बाँधकर सात का बंधरूप एक भूयस्कार बतला आये हैं। एकको बाँधकर सातका बंधरूप भूयस्कारमें भी सातका ही बन्धस्थान होता है, अतः उसे पृथक् नहीं गिनाया है। इसप्रकार उपशमश्रेणिसे उतरनेपर उक्त तीन ही भूयस्कार-बन्ध होते हैं।

(भूयस्कारबन्धके बिल्कुल उलटा अल्पतर बंध होता है। अर्थात् अधिक कर्मोंका बंध करके कम कर्मोंके बंध करनेको अल्पतर बंध कहते हैं)। भूयस्कारकी तरह अल्पतर बंध भी तीन ही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

आयुकर्मके बन्धकालमें आठकर्मोंका बन्ध करके जब जीव सातकर्मोंका बंध करता है तो पहला अल्पतर बंध होता है। नवमें गुणस्थानमें सात कर्मोंका बंध करके दसवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जब जीव मोहनीयके बिना शेष छह कर्मोंका बंध करता है, तब दूसरा अल्पतर बंध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानमें छह कर्मोंका बंध करके ग्यारहवें अथवा बारहवें गुणस्था-

में एक कमका बध करनेपर तीसरा अल्पतरबध होता है। यहा पर भी आठका बध करके छह तथा एकका बधरूप और सातका बध करके एक का बधरूप अल्पतर बध नहीं हो सकते, क्योंकि अप्रमत्त तथा अनिवृत्तिकरण गुणस्थानसे जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थानमें नहीं जा सकता और न अप्रमत्तसे एकदम दसवें गुणस्थानमें ही जा सकता है। अत अल्पतरबध भी तीन ही जानने चाहियें।

(पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया है, दूसरे समयमें भी उतनेही कर्मोंका बध करनेको अवस्थितबध कहते हैं)। अर्थात् आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका, और एकको बाँधकर एकका बध करनेको अवस्थितबध कहते हैं।) अत बधस्थान चार हैं अत अवस्थितबध भी चारही होते हैं।

(एक भी कर्मका न बाँधकर पुन कर्मबध करनेको अवक्तव्यबध कहते हैं।) यह बध मूलप्रकृतियोंके बधस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानतक तो बराबर कर्मबध होता है, केवल चौदहवें गुणस्थानमें ही किसी भी कर्मका बध नहीं होता। परन्तु चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचनेके बाद जीव लौटकर नीचेके गुणस्थानोंमें नहीं आता। (अत एक भी कर्मका बध न करके पुन कर्मबध करनेका अवसर ही नहीं आता। इसलिये अवक्तव्य-

१ पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है–

इगछाइ मूलियाणं बन्धट्ठाणा हवंति चत्तारि।
अब्बधगो न बधइ इइ अ-वत्तो अओ नत्थि ॥ २२० ॥"

अर्थात्–मूलप्रकृतियोंके एक प्रकृतिक छह प्रकृतिक वगैरह चार बधस्थान होते हैं। यहां एक भी मूलप्रकृतिका बध न करके पुन प्रकृति बध करना सम्भव नहीं है अत अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

कर्मकाण्ड गा० ४५३ में मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूयस्कार, जिसे यहाँ भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इसी प्रकार बतलाये हैं।

बन्ध नहीं होता ।²

अब भुजकार आदि बन्धोंका लक्षण कहते हैं—

एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ।
तत्तियमेत्तो तइओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २२ ॥

अर्थ—एक दो आदि अधिक प्रकृतियोंके बाँधनेपर भुजकार बन्ध होता है। जैसे एकको बाँधकर दो को बाँधना, दो को बाँधकर तीनको बाँधना, और तीनको बाँधकर चारको बाँधना भुजकार है। तथा एक दो आदि हीन प्रकृतियोंके बन्धको अल्पतर बन्ध कहते हैं। जैसे, चारको बाँधकर तीनको बाँधना, तीनको बाँधकर दो को बाँधना और दो को बाँधकर एकको बाँधना अल्पतरबन्ध कहलाता है। पहले समयमें जितनी प्रकृतियोंका बन्ध किया है आगेके समयोंमें भी उतनी ही प्रकृतियोंके बन्ध करनेको अवस्थित बन्ध कहते हैं। जैसे चारको बाँधकर चारको, तीनको बाँधकर तीनको और एकको बाँधकर एकका बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। तथा (किसी भी कर्मका बन्ध न करके पुनः कर्मबन्ध करनेके पहले समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है)

---

१ यह गाथा कर्मप्रकृतिके उदय० की निम्न गाथाका रूपान्तर मालूम होती है।

"एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ।
तत्तियमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो ॥ ५२ ॥"

इस गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने मूलप्रकृतियोंमें भुजकार आदि बन्धोंका विचार किया है।

कर्मकाण्डमें भी इन बन्धोंका लक्षण स्वीकार है—

"अप्पं बंधंतो बहुबंधे बहुगादु अप्पबंधेवि।
उभयत्थसमे बंधे भुजगारादी कमे होंति ॥ ४६९

२ पढमो स पु। ३-पढमो स पु।

भावार्थ—इस गाथामें भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। उनके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्ध केवल पहले समयमें ही होते हैं और अवस्थितबन्ध द्वितीयादि समयोंमें होता है। जैसे, कोई जीव छह कर्मोंका बन्धकरके सातका बन्ध करता है, यह भूयस्कारबन्ध है। दूसरे समयमें यही भूयस्कार नहीं होसकता, क्योंकि प्रथम समयमें सातका बन्धकरके यदि दूसरे समयमें आठका बन्ध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है, यदि छहका बन्ध करता है तो अल्पतर होजाता है और यदि सातका बन्ध करता है तो अवस्थितबन्ध होजाता है। सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्यामें परिवर्तन हुए बिना अधिक बाँधकर कम बाँधना, कम बाँधकर अधिक बाँधना और कुछ भी न बाँधकर पुनः बाँधना केवल एकबार ही सम्भव है, जब कि उतने ही कर्म बाँधकर पुनः उतने ही कर्म बाँधना पुनः पुनः सम्भव है। अतः एक ही अवस्थितबन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बन्धोंमें यह बात नहीं है॥

मूलप्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका कथन करके, अब उत्तरप्रकृतियोंमें उन्हें बतलाते हैं—

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि॥२४॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप, इस प्रकार तीन बन्धस्थान होते हैं। तथा उनमें दो भूयस्कार, दो

---

१ पञ्चसंग्रहके सप्ततिका नामक अधिकारमें भी दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान इसी प्रकार बतलाये हैं—

"नवछच्चउहा बज्झइ दुगट्ठदसमेण दंसणावरणं॥ १०॥"

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं। उनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानमें नौप्रकृतिरूप बन्धस्थान पाया जाता है। उससे आगे आठवें गुण

अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबंध होते हैं। मोहनीयकर्मके बाईस प्रकृतिरूप, इक्कीस प्रकृतिरूप, सतरह प्रकृतिरूप, तेरह प्रकृतिरूप, नौ प्रकृतिरूप, पाँच प्रकृतिरूप, चार प्रकृतिरूप, तीन प्रकृतिरूप, दो प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार दस बंधस्थान होते हैं। तथा, उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबंध होते हैं।

भावार्थ—उत्तरप्रकृतियोंके बंधस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बंधोंका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बंधस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बंधोंको गिनाया है। मूलप्रकृतियोंके पाठक्रमके अनुसार पहले ज्ञानावरणकर्मके बंधस्थानोंमें भूयस्कार आदि बंधोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु ऐसा न करके दर्शनावरण और मोहनीयसे इस प्रकरणके प्रारम्भ करनेका कारण यह है कि भूयस्कार आदि बंध केवल तीनही कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें होते हैं। उनके नाम दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म हैं। शेष पाँच कर्मोंमें उनकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मकी पाँचों प्रकृतियाँ एक साथही बंधती हैं और एक साथही रुकती हैं। अतः दोनों कर्मोंका पाँच प्रकृतिरूप एक ही बंधस्थान होता है। और एक बंधस्थानके होते हुए भूयस्कार आदि बंध कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ऐसी दशामें तो सर्वदा ही अवस्थितबंध रहता है।

इसीप्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है, अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बंध नहीं होते। इसीसे **गोमट्टसार कर्मकाण्डमें** उत्तर प्रकृतियोंमें भुजाकार आदि बंधोंका निरूपण

स्थान तक छह प्रकृतिरूप बंधस्थान होता है और उससे आगे दसवें गुणस्थान तक चार प्रकृतिरूप बंधस्थान होता है।

करते हुए लिखा है–

"तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दसणावरणमोहणामाण ।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसेय हवे ठाण ॥ ४५८ ॥"

अर्थात्–दर्शनावरण, मोह और नामकर्मके क्रमसे तीन, दस और आठ बन्धस्थान होते हैं । और इन्हींमें भुजाकार आदि बन्ध होते हैं । शेष कर्मोंमें केवल एकही बन्धस्थान होता है । अस्तु,

दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदिबन्ध निम्न-प्रकार होते हैं–

दर्शनावरण–इस कर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं और उनमें तीन बन्धस्थान होते हैं । क्योंकि सास्वादन गुणस्थानतक तो सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है । सास्वादन गुणस्थानके अन्तमें स्त्यानर्द्धित्रिकके बन्धकी समाप्ति हो जाती है, अतः आगे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमभागतक शेष छह ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है । अपूर्वकरणके प्रथमभागके अन्तमें निद्रा और प्रचलाके बन्धका निरोध होजाता है, अतः उससे आगे दसवें गुणस्थानतक शेष चारही प्रकृतियोंका बन्ध होता है । इस प्रकार दर्शनावरणकर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप तीन बन्धस्थान होते हैं । उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं। जो इस प्रकार हैं–

अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे लेकर दसवें गुणस्थानतक किसी

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है–

'बधट्ठाणा तिदसट्ठ दसणावरणमोहनामाण ।
सेसाणेगमवट्ठियबधो सव्वत्थ ठाणसमो ॥ २२२ ॥'

अर्थात्–दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं, मोहनीयके दस बन्धस्थान हैं नामकर्मके आठ बन्धस्थान हैं, और शेषकर्मोंका एक एकही बन्धस्थान है । जितने बन्धस्थान होते हैं, उतनेही अवस्थितबन्ध होते हैं ।

एक गुणस्थानमें चार प्रकृतियोंका बन्ध करके, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला भूयस्कारबन्ध होता है। वहांसे भी गिरकर जब नौ प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कारबन्ध होता है। इस प्रकार दो भूयस्कारबन्ध जानने चाहियें।

अल्पतरबन्ध उनसे विपरीत होते हैं। अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रकृतियोंका बन्धकरके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अल्पतरबन्ध होता है। और जब छह का बन्धकरके चारका बन्धकरता है तो दूसरा अल्पतरबन्ध होता है। इस प्रकार दो अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा, तीन बन्धस्थानोंके तीन ही अवस्थितबन्ध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दर्शनावरणकर्मका बिल्कुल बन्ध न करके, जब कोई जीव वहांसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अवक्तव्यबन्ध होता है। और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तरोंमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दर्शनावरणकी छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह दूसरा अवक्तव्यबन्ध है। इस प्रकार दर्शनावरणमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं।

मोहनीयमें–इस कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं। उनमेंसे सम्यक्-

१ गो० कर्मकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बन्धोंमें कुछ अन्तर है। उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध बतलाये हैं जैसा कि उसकी निम्नगाथासे स्पष्ट है–

दस वीस एक्कारस तेत्तीस मोहबंधठाणाणि।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥'

अर्थ–मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

तेतीस अवस्थित और 'च' से दो अवक्तव्य बन्ध सामान्यसे होते हैं। कर्म ग्रन्थ और कर्मकाण्डके इस विवेचनमें अन्तर पड़नेका यह कारण है कि कर्मग्रन्थमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विवेचन केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़नेकी अपेक्षासे किया है। किन्तु कर्मकाण्डमें उक्त दृष्टिके साथही साथ इस बातका भी ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढ़ते समय जीव किस गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें जा सकता है और नीचे उतरते समय किस गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें आ सकता है। इसके सिवाय मरण की अपेक्षासे भी भूयस्कार आदि बन्ध गिनाये हैं।

कर्मग्रन्थमें एकसे दो, दोसे तीन, तीनसे चार आदिका बन्ध बतलाकर दस बन्धस्थानोंमें नौ भूयस्कार बन्ध बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनके सिवाय ग्यारह भुजाकार और बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं–मरणकी अपेक्षा से जीव एक को बांधकर सतरहका, दो को बांधकर सतरहका, तीनको बांध कर सतरहका, चारको बांधकर सतरहका और पांचको बांधकर सतरहका बन्ध करता है अत पांच भुजाकार तो मरणकी अपेक्षासे होते हैं। तथा, प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध करके कोई जीव पांचवे गुणस्थानमें आकर तेरहका बन्ध करता है। कोई जीव चौथे गुणस्थानमें आकर सतरहका बन्ध करता है, कोई जीव दूसरे गुणस्थानमें आकर इक्कीसका बन्ध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थानमें आकर बाईसका बन्ध करता है, क्यों कि प्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर जीव नीचेके सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अत नौके चार भुजाकार बन्ध होते हैं। तथा, इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानमें तेरहका बन्ध करके सतरह, इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अत तेरहके तीन भुजाकार होते हैं। तथा, सतरह को बांधकर इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अत सतरहके दो भुजाकार होते हैं। इस प्रकार नौके चार, तेरहके तीन और

एक गुणस्थानमें चार प्रकृतियोंका बंध करके, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला भूयस्कारबन्ध होता है। वहांसे भी गिरकर जब नौ प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कारबन्ध होता है। इस प्रकार दो भूयस्कारबन्ध जानने चाहियें।

अल्पतरबन्ध उनसे विपरीत होते हैं। अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रकृतियोंका बन्धकरके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अल्पतरबन्ध होता है। और जब छह का बन्धकरके चारका बन्धकरता है तो दूसरा अल्पतरबन्ध होता है। इस प्रकार दो अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा, तीन बन्धस्थानोंके तीन ही अवस्थितबन्ध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दर्शनावरणकर्मका बिल्कुल बन्ध न करके, जब कोई जीव वहांसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अवक्तव्यबन्ध होता है। और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तरोंमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दर्शनावरणकी छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह दूसरा अवक्तव्यबन्ध है। इस प्रकार दर्शनावरणकर्मके दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं।

मोहनीयमें–इस कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाइस हैं। उनमेंसे सम्यक्-

१ गो० कर्मकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बन्धोंमें कुछ अन्तर है। उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध बतलाये हैं जैसा कि उसकी निम्नगाथासे स्पष्ट है–

"दस वीस एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि।

भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥"

अर्थ–मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

बन्ध है और दूसरे समयका अवस्थित। जिस प्रकार भूयस्कार आदि बन्धों का निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार यदि अवस्थितबन्धका भी निरूपण किया जाये तो कहना होगा कि बाईसका बन्ध करके बाईसका बन्ध करना, इक्कीसका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध करना, सतरहका बन्ध करके सतरह का बन्ध करना आदि अवस्थित बन्ध है। अत यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल अवस्थित बन्ध उतने ही होते हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं। इसीसे कर्मग्रन्थमें मोहनीयके अवस्थितबन्ध दसही बतलाये हैं। किन्तु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें प्राय अवस्थितबन्ध होता है। अत इन उपपदपूर्वक होनेवाले अवस्थितबन्ध भी उतनेही ठहरते हैं जितने कि उक्त तीनों बन्ध होते हैं। इसीसे कर्मकाण्डमें उक्त तीनों बन्धोंके बराबर ही अवस्थितबन्धका परिमाण बतलाया है। अवक्तव्यबन्ध कर्मग्रन्थके ही समान जानने चाहियें। इस प्रकार ये चारों बन्ध सामान्यसे कहे गये हैं।

कर्मकाण्डमें विशेषरूपसे भी भुजाकार आदिको गिनाया है, जिनकी संख्या निम्न प्रकार है–

"सत्तावीसहिय सय पणदाल पचहत्तरिहिय सय।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥ ४७१ ॥"

अर्थ–विशेषपनेसे अर्थात् भङ्गोंकी अपेक्षासे एक सौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं पैंतालीस अल्पतर होते हैं और एक सौ पचहत्तर अवक्तव्य बन्ध होते हैं।

इन बन्धोंको जानने के लिये पहले भङ्गका जानना आवश्यक है। एक ही बन्धस्थानमें प्रकृतियोंके परिवर्तनसे जो विकल्प होते हैं, उन्हें भङ्ग कहते हैं। जैसे बाइस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीनों वेदोंमें से एक वेदका और हास्य रति और शोक अरतिके दो युगलोंमें से एक युगलका बन्ध होता है अत उसके ३×२=६ भङ्ग होते हैं, अर्थात् बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान को

सतरहके दो भुजाकार बन्ध होते हैं। किन्तु कर्मग्रन्थमें प्रत्येक बन्धस्थानका एक एक इस प्रकार तीन ही भुजाकार बतलाये हैं। अत शेष छह रह जाते हैं। तथा मरणकी अपेक्षासे पाँच भुजाकार ऊपर बतला आये हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डमें ५+६=११ भुजाकार अधिक बतलाये हैं।

तथा कर्मग्रन्थमें अल्पतरबन्ध आठ बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है, जो इस प्रकार है—कर्मग्रन्थमें बाइस को बाँधकर सतरहका बन्धरूप केवल एकही अल्पतर बन्ध गिनाया है किन्तु पहले गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठें गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अत बाईसका बाँधकर सतरह तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण बाइसप्रकृतिक बन्धस्थानके तीन अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा सतरहका बन्ध करके तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण सतरहके बन्धस्थानके दो अल्पतर बन्ध होते हैं। इस प्रकार बाइसके तीन और सतरहके दो अल्पतर बन्धोंमें से कर्मग्रन्थमें केवल एक एकही अल्पतर बतलाया है। अत तीन शेष रह जाते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाण्डमें अधिक हैं।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें भी यदि उतनी ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जितनी प्रकृतियोंका बन्ध पहले समयमें हुआ था, तो उसे अवस्थित बन्ध कहते हैं। अत कर्मकाण्डमें भुजाकार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्धोंकी संख्याके बराबरही अवस्थितबन्धकी संख्या बतलाइ है। यदि दूसरे समयमें होनेवाले बन्धके ऊपरसे भूयस्कार अल्पतर, अथवा अवक्तव्य पदोंको अलग करके उनकी वास्तविकता पर दृष्टि दी जाये तो मूल अवस्थितबन्ध उतनेही ठहरते हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं। जैस, किसी जीवने इक्कीसका बन्ध करके प्रथम समयमें बाईसका बन्ध किया और दूसरे समयमें भी बाईसका ही बन्ध किया। यहां प्रथम समयका बन्ध भूयस्कार

सतरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार १२+८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते है। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवे गुणस्थानमें पांच, चार आदि पांच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्कं।

थूले पणगादीणं एक्केक्कं अंतिमे सुण्णं ॥ ४७३ ॥"

अर्थ-पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, और नौ का बन्ध करने पर ६+१=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भङ्ग होते हैं। दूसरे गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता क्योंकि दूसरेके बाद पहलाही गुणस्थान होता है और उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध करके बाइसका बन्ध

कोई जीव हास्य रति और पुरुषवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और पुरुषवेदके साथ बांधता है । कोई हास्य रति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, इसी तरह नपुंसकवेदमें भी समझ लेना चाहिये । इस प्रकार बाइस प्रकृतिक बन्धस्थान भिन्न भिन्न जीवोंके छह प्रकारसे होता है । इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके चार भङ्ग होते हैं क्योंकि उसमें एक जीवके एक समयमें दो वेदोंमें से किसी एक वेदका और दो युगलोंमें से किसी एक युगलका बन्ध होता है । सारांश यह है कि अपने अपने बन्धस्थानमें सम्भवित वेदों को और युगलोंको परस्परमें गुणा करनेसे अपने अपने बन्धस्थानके भङ्ग होते हैं । जो इस प्रकार हैं–

'छव्वावीसे चदु इगवीसे दो दो हवंति छट्ठोत्ति ।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥ ४६७ ॥"

अर्थ–मोहनीयके बन्धस्थानोंमें से बाईसके छह, इक्कीसके चार, इसके आगे प्रमत्तगुणस्थान तक सम्भवित बन्धस्थानोंके दो दो और उसके आगे सम्भवित बन्धस्थानोंके एक एक भङ्ग होते हैं । इन भङ्गोंकी अपेक्षासे एकसौ सत्ताइस भुजाकार निम्नप्रकार हैं–

"णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो दो य ।
थूले पणगादीणं तिय तिय मिच्छादिभुजगारा ॥ ४७२ ॥"

अर्थ–पहले गुणस्थानमें एक भी भुजाकार बन्ध नहीं होता, क्योंकि बाइस प्रकृतिक बन्धस्थानसे अधिक प्रकृतियोंवाला कोई बन्धस्थान ही नहीं है जिसके बांधनेसे वहां भुजाकार बन्ध सम्भव हो । दूसरे गुणस्थानमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि इक्कीसको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर इक्कीसके चार भङ्गोंको और बाइसके छह भङ्गोंको परस्परमें गुणा करने पर ४×६=२४ भुजाकार होते हैं । तीसरे में बारह भुजाकार होते हैं, क्योंकि

सतरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होनेपर २×६=१२, इस प्रकार १२-८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठेमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते है। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवे गुणस्थानमें पांच, चार आदि पांच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीस णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्क।
थूले पणगादीण एक्केक्क अंतिमे सुण्ण ॥ ४७३ ॥"

अर्थ-पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, और नौ का [illegible] पर ६+१=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भङ्ग होते हैं [illegible] भी अल्पतर नहीं होता क्योंकि [illegible] उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध [illegible]

होनानसे चारका ही बंध होता है। तीसरे भागमें संज्वलन मोधके बंधका अभाव होजानेके कारण तीनही प्रकृतियोंका बंध होता है। चौथे भागमें संज्वलनमानका बंध न होनेसे दो प्रकृतियोंका ही बंध होता है। पाँचवे भागमें संज्वलन मायाका भी बंध न होनेसे केवल एक संज्वलनलोभका ही बंध होता है। उसके आगे बादरकषायका अभाव होनेसे उस एक प्रकृति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्मके दस बंधस्थान जानने चाहियें। इन दस बंधस्थानोंमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं, जो निम्नप्रकार हैं–

एकको बाँधकर दो का बंध करनेपर पहला भूयस्कारबंध होता है। दो का बाँधकर तीनका बंध करने पर दूसरा भूयस्कार होता है। इसी प्रकार तीनको बाँधकर चारका बंध करनेपर तीसरा, चारको बाँधकर पाँचका बंध-करनेपर चौथा, पाँचका बंध करके नौका बंध करनेपर पाँचवा, नौका बंध करके तेरहका बंध करनेपर छठा, तेरहका बंध करके सतरहका बंध करने पर सातवाँ, सतरहका बंध करके इकीसका बंध करनेपर आठवाँ, और इकीसका बंध करके बाइसका बंध करनेपर नौवाँ भूयस्कारबंध होता है।

आठ अल्पतर बंध इस प्रकार हैं–बाइसका बंधकरके सतरहका बंध करनेपर पहला अल्पतर होता है। सतरहका बंध करके तेरहका बंध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसीप्रकार तेरहका बंधकरके नौ का बंध करनेपर तीसरा, नौ का बंधकरके पाँचका बंधकरनेपर चौथा, पाँचका बंध करके चारका बंध करनेपर पाँचवा, चारका बंधकरके तीनका बंध करने पर छठा, तीनका बंध करके दोका बंध करनेपर सातवाँ और दो का बंध-करके एकका बंध करनेपर आठवाँ अल्पतरबंध होता है। यहाँ बाइसका बंधकरके इकीसका बंधरूप अल्पतरबंध नहीं बतलाया है, क्योंकि बाइस का बंध पहले गुणस्थानमें होता है और इकीसका बंध दूसरे गुणस्थानमें, अतः यदि जीव पहले गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जासकता तो यह अल्प-

तर बंध बन सकता था। किंतु मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, प्रत्युत उपशमसम्यग्दृष्टि ही सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है, जैसा कि कर्मप्रकृति (उपशम क०) और उसकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

'छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥"

चूर्णि-"उवसमत्तद्धातो पडमाणो छावलिगसेसाए उवसमसमत्तद्धाते परति उक्कोसाते, जहन्नेण एक्कसमयसेसाए उवसमसमत्तद्धाए सासायणसम्मत्त कोति गच्छेज्जा, णो सव्वे गच्छेज्जा।"

अर्थात्—उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली शेष रहनेपर कोई कोई उपशम सम्यग्दृष्टी सासादन सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।

अतः बाईसका बंध करके इक्कीसका बंधरूप अल्पतर बंध सम्भव नहीं है, इसलिये अल्पतरबंध आठ ही होते हैं। यतः बंधस्थान दस हैं अतः अवस्थितबंध भी दस ही होते हैं।

अवक्तव्यबन्ध निम्नप्रकार है— ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका बंध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होकर नवमें गुणस्थानमें आता है और वहाँ संज्वलन लोभका बंध करता है, तब पहला अवक्तव्यबंध होता है। यदि ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुका क्षय होजानेके कारण मरणकरके कोई जीव अनुत्तरवासी देवोंमें जन्म लेता है और वहाँ सतरह प्रकृतियोंका बंध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबंध होता है। (इस प्रकार मोहनीयकर्ममें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबंध होते हैं)।

अब नामकर्मकी प्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बंधोंका निरूपण करते हैं—

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबंधा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

अर्थ—तेईस प्रकृतिरूप, पचीस प्रकृतिरूप, छब्बीस प्रकृतिरूप, अट्ठा-

इस प्रकृतिरूप, उनतीस प्रकृतिरूप, तीस प्रकृतिरूप, इकतीस प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार नामकर्मके आठ बंधस्थान होते हैं। और उनमें छह भूयस्कारबंध, सात अल्पतरबंध, आठ अवस्थित बंध और तीन अवक्तव्यबंध होते हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बंधस्थान होता है।

भावार्थ—इस गाथामें नामकर्मके बंधस्थानोंको गिनाकर उनमें भूयस्कार आदि बंधोंकी संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

नामकर्मकी समस्त बंधप्रकृतियाँ ६७ हैं, किन्तु उनमेंसे एक समयमें एक जीवके तेइस पचीस आदि प्रकृतियाँ ही बंधको प्राप्त होती हैं, अतः नामकर्मके बंधस्थान आठ ही होते हैं। अबतक जिन कर्मोंके बंधस्थान बतला आये हैं, वे कर्म जीवविपाकी हैं—जीवके आत्मिकगुणों पर ही उनका असर पड़ता है। किन्तु नामकर्मका बहुभाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवोंकी शारीरिक रचनामें ही होता है, अतः भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे एकही बंधस्थानकी अवान्तर प्रकृतियोंमें अन्तर पड़ जाता है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं, चारों गतिके सभी जीवोंके आठवें गुणस्थानतक इनका बंध अवश्य होता है। इन प्रकृतियोंके साथ तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडक संस्थान, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे एक तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे एक, अपर्याप्त अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, और अयशःकीर्ति, इन चौदह प्रकृतियों के मिलानेसे तेइस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। यह स्थान एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित बंधता है, अर्थात् इस स्थानका बंधक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कायमें ही जन्म लेता है। इन तेइस प्रकृतियोंमें से अपर्याप्त प्रकृतिको कमकरके, पर्याप्त, उच्छ्वास, और पराघात प्रकृतियोंके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। उनमसे स्थावर,

पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघातको घटाकर, त्रस,अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गके मिलानेसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका बन्धस्थान होता है। उसमें द्वीन्द्रिय जातिके स्थानमें त्रीन्द्रिय जातिके मिलानेसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। इसीप्रकार त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रिय जातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। तथा इसमें तिर्यञ्चगतिके स्थानमें मनुष्यगतिके मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्तयुत पचीसका स्थान होता है। इस प्रकार पचीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह प्रकारका होता है और उसके बाधनेवाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकोंमें और द्वीन्द्रियको आदि लेकर सभी अपर्याप्तक तिर्यञ्च और मनुष्योंमें जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगतिसहित पचीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन, और औदारिकअङ्गोपाङ्गको घटाकर, स्थावर, पर्याप्त, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, और आतप तथा उद्योतमें से किसी एकके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्तयुत छब्बीस का स्थान होता है। इस स्थानका बन्धक जीव एकेन्द्रियपर्याप्तक कायमें जन्म लेता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से एक, शुभ और अशुभमें से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमें से एक, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन प्रकृतिरूप देवगति सहित अट्ठाइसका बन्धस्थान होता है। इस स्थानका बन्धक मरकर देव होता है। तथा, नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, हुण्ड संस्थान, नरकानुपूर्वी,

वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, और पराघात, इन प्रकृतिरूप नरकगतियोग्य अट्ठाईसका बन्धस्थान होता है ।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति अथवा अयशःकीर्ति, तिर्यञ्च-गति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुण्डसंस्थान, तिर्यगानुपूर्वी, सेवार्त-संहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परा-घात, इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका बन्धस्थान होता है । इसमें द्वीन्द्रियके स्थानमें त्रीन्द्रियजातिके मिलानेसे त्रीन्द्रियपर्याप्तयुत उन-तीसका स्थान होता है । त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रियजातिके मिलाने से चतुरिन्द्रियजातियुत उनतीसका बन्धस्थान होता है । चतुरिन्द्रियजाति-के स्थानमें पञ्चेन्द्रियजातिके मिलानेसे, पञ्चेन्द्रियुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युग-लोंमेंसे एक एक प्रकृति बंधती है। तथा, छह संस्थान और छह संहननमें से किसी भी एक संस्थान और एक संहननका बन्ध होता है । इसमें तिर्य-ग्गति और तिर्यगानुपूर्वीसे घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वीके मिलाने से पर्याप्तमनुष्यसहित उनतीसका बन्धस्थान होता है । नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आ-देय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थङ्कर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थङ्कर सहित उनतीसका बन्धस्थान होता है। इसप्रकार उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह होते हैं, इन स्थानोंका बन्धक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म लेता है ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीसके

चार बंधस्थानोंमें उद्योत प्रकृतिके मिलानेसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीसके चार बंधस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य-सहित उनतीसके बंधस्थानमें तीर्थङ्कर प्रकृतिके मिलानेसे मनुष्यगति सहित तीसका बंधस्थान होता है। देवगति सहित उनतीसके बंधस्थानमें से तीर्थङ्कर प्रकृतिको घटाकर आहारकद्विकके मिलानेसे देवगतियुत तीसका बंधस्थान होता है। इसप्रकार तीसप्रकृतिक बंधस्थान भी छह होते हैं। देवगतिसहित उनतीसके बंधस्थानमें आहारकद्विकके मिलानेसे देवगति-सहित इकतीसका बंधस्थान होता है। एकप्रकृतिक बंधस्थानमें केवल एक यशःकीर्ति का ही बंध होता है।

भूयस्कारादिबन्ध—इन बंधस्थानोंमें छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्तव्य बंध होते हैं। तेईसका बंध करके पचीस का बंध करना, पचीसका बंध करके छब्बीसका बंध करना, छब्बीसका बंध करके अट्ठाइसका बंध करना, अट्ठाइसका बंध करके उनतीसका बंध करना, उनतीसका बंध करके तीसका बन्ध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बंध करके इकतीसका बंध करना, इसप्रकार छह भूयस्कार बंध होते हैं। नवें गुणस्थानमें एक यशःकीर्तिका बंध करके, वहांसे च्युत होकर, आठवें गुणस्थानमें जब कोई जीव तीस अथवा इकतीसका बंध करता है, तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता, क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इकतीसका ही बंध करता है और यही बंध पांचवें और छठे भूयस्कारमें भी होता है अतः इसे पृथक् नहीं गिना है। इसप्रकार भूयस्कारबंध छह होते हैं।

१ कर्मप्रकृतिके सत्त्वाधिकार की गाथा ५२ की टीकामें उपाध्याय यशो-विजयजीने कर्मोंके बन्धस्थानों तथा उनमें भूयस्कारादिबन्धों का वर्णन किया है। नामकर्म के बंधस्थानोंमें छह भूयस्कारबंधों को बतलाकर, सातवें भूयस्कारके सम्बन्धमें इन्होंने एक मतका उल्लेख करके, उसका समाधान करते हुए जो चर्चा की है उसका सारांश निम्नप्रकार है—

अब अल्पतर बन्ध बतलाते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बन्ध करके एकप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करनेपर पहला अल्पतर होता है। आहारकद्विक और तीर्थङ्करसहित इकतीसका बन्ध करके जो जीव देवलोकमें उत्पन्न होता है, वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह दूसरा अल्पतरबन्ध है। वही जीव स्वर्गसे च्युत होकर, मनुष्यगतिमें जन्म लेकर जब देवगतिके योग्य तीर्थङ्कररहित उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। जब कोई

शङ्का—एक प्रकृतिका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करनेपर सातवाँ भूयस्कारबन्ध भी होता है। शास्त्रान्तरमें भी सात भूयस्कार बतलाये हैं। जैसा कि शतकचूर्णिमें लिखा है—'एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भुओगारा सत्त।' अर्थात् एकको बांधकर इकतीसका बन्ध करता है, अतः सात भूयस्कार होते हैं।

उत्तर—यह ठीक नहीं है; क्योंकि अट्ठाइस आदि बन्धस्थानोंके भूयस्कारोंको बतलाते हुए इकतीसके बन्धरूप भूयस्कारका पहले ही ग्रहण कर लिया है। अतः एक की अपेक्षासे उसे पृथक् नहीं गिना जा सकता। यहाँ भिन्न भिन्न बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेदोंकी विवक्षा नहीं की है। ऐसा होनेपर बहुतसे भूयस्कार हो जायेंगे। जैसे कभी अट्ठाईसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है, कभी उनतीसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है और कभी एकका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है। तथा कभी तेईसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है और कभी पचीसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है। इस प्रकार सातसे भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते हैं। किन्तु यहाँ यह इष्ट नहीं है। अतः भिन्न २ बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेद नहीं बतलाये हैं।

तिर्यञ्च या मनुष्य तिर्यग्गतिके योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियोंका बंध करके, विशुद्ध परिणामोंके कारण देवगतिके योग्य अट्ठाईसका बंध करता है, तब चौथा अल्पतरबन्ध होता है। अट्ठाईसप्रकृतिक बंधस्थानका बंध करके, सक्लेश परिणामोंके कारण जब कोई जीव एकेन्द्रियके योग्य छब्बीस प्रकृतियोंका बंध करता है, तब पाचवाँ अल्पतरबंध होता है। छब्बीसका बंध करके पच्चीसका बंध करने पर छठा अल्पतरबन्ध होता है। तथा, पच्चीसका बंध करके तेईसका बंध करने पर सातवाँ अल्पतरबंध होता है। इसप्रकार सात अल्पतरबंध होते हैं। तथा, आठ बंधस्थानोंकी अपेक्षासे आठही अवस्थितबंध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें नामकर्मकी एक भी प्रकृतिको न बांधकर, वहाँ से च्युत होकर, जब कोई जीव एक प्रकृतिका बंध करता है तो पहला अवक्तव्य बंध होता है। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके कोई जीव अनुत्तरोंमें जन्म लेकर यदि मनुष्यगतिके योग्य तीसका बंध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबंध होता है। और यदि मनुष्यगतिके योग्य उनतीसका बंध करता है तो तीसरा अवक्तव्यबंध होता है। इसप्रकार तीन अवक्तव्यबंध होते हैं।

इसप्रकार उक्त गाथाके तीन चरणोंके द्वारा नामकर्मके बंधस्थानों

---

१ कर्मकाण्डमें गा० ५६५से ५८२ तक नामकर्मके भूयस्कार आदि बन्धोंकी विस्तारसे चर्चाकी है। उसमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कार आदि बंध बतलाये हैं। और जितने प्रकृतिक स्थानको बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध संभव है, तथा उन उन स्थानोंके जितने भङ्ग हो सकते हैं, उन सबकी अपेक्षासे भूयस्कार आदिको बतलाया है, जैसा कि मोहनीय कर्ममें बतला आये हैं। किन्तु उसमें दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें अवस्थित और अवक्तव्यबंधोंको नहीं बतलाया है।

और उनमें भूयस्कार आदि बंधों का निर्देश करके शेष कर्मों के बंधस्थानों को बतलाते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के सिवाय शेष पाँच कर्मों में एक एक ही बंधस्थान होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तराय की पाँचों प्रकृतियां एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं। तथा, वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतियों में से भी एक समय में एक एक प्रकृति का ही बंध होता है। इसलिये इन कर्मों में भूयस्कार आदि बंध नहीं होते हैं, क्योंकि जहां एक ही प्रकृति का बंध होता है, वहाँ थोड़ी प्रकृतियों को बाँधकर अधिक को बाँधना अथवा अधिक को बाँधकर कम को बाँधना कैसे संभव हो सकता है? किन्तु वेदनीय के सिवाय शेष चार कर्मों में अवक्तव्यबंध और अवस्थितबंध होते हैं। क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, अंतराय और गोत्र कर्म का बंध न करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होता है और नीचे के गुणस्थान में आकर पुनः उन कर्मों का बंध करता है, तब प्रथम समय में अवक्तव्यबंध होता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थितबंध होता है। तथा त्रिभाग में जब आयुकर्म का बंध होता है, तब प्रथम समय में अवक्तव्यबंध होता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बंध होता है। किन्तु वेदनीयकर्म में केवल अवस्थित ही बंध होता है, अवक्तव्यबंध नहीं होता, क्योंकि वेदनीय कर्म का अबंध अयोगिकेवली गुणस्थान में होता है, किन्तु वहां से गिरकर जीव नीचे नहीं आता, अतः उसका पुनः बंध नहीं होता।

---

१८. स्थितिबन्धद्वार

प्रकृतिबन्धका वर्णन करके अब स्थितिबन्धका वर्णन करते हैं। सबसे प्रथम मूलकर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसंयर चउसु उदही निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥

अर्थ—नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथासे बन्धके दूसरे भेद स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। बन्ध हाजाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्माके साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है। बंधनेवाले कर्मोंमें इस स्थितिकालकी मर्यादाके पड़नेको ही स्थितिबन्ध कहते हैं। स्थिति दो प्रकारकी होती है—एक उत्कृष्टस्थिति और दूसरी जघन्यस्थिति। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। यह स्थिति इतनी अधिक है कि सख्याप्रमाणके द्वारा उसका बतलाना अशक्यसा है अतः उसे उपमाप्रमाणके द्वारा बतलाया गया है। उपमाप्रमाणका ही एक भेद सागरोपम है और

१ प्रकृतिबन्धका निरूपण करनेके पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु लघुकर्मस्तवकी टीकामें तथा बन्धस्वामित्वकी टीकामें उसका विस्तारसे वर्णन किया है, अतः उसे वहींसे जान लेना चाहिये। ऐसा इस कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है। देखो, पृ० २६।

२–सिय स० पु०।

३ सागरोपमके स्वरूपको जाननेके लिये ८५वीं गाथा देखें।

एक करोड़ को एक करोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोटिकोटि कहते हैं। इन कोटिकोटि सागरोंसे कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेद नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं–

मुत्तु अकसायठिइ बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ–अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

---

१ इतर दर्शनोंमें कर्मोंकी स्थिति तो देखनेमें नहीं आई किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं-एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविधं, नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्-दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयम्।" अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।" योगद० २-१२।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है–

'मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाण मुहुत्तंतो ॥ २३९ ॥"

मुहूर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पांच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ—स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है। अतः दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बंधता है, शेष सात कर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बंधते हैं। यतः स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अतः अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बंधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने '**मुत्तुं अकसायठिइं**' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहांपर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है॥

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी॥ २८॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अट्ठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, प्रथम संस्थान और प्रथम संहननकी उत्कृष्ट स्थिति दस दस कोटिकोटि सागर है और आगेके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो दो सागरकी वृद्धि होती जाती है। अर्थात्

एक क्रोड़ को एक क्रोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोड़ाकोड़ि कहते हैं। इन कोड़ाकोड़ि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोड़ाकोड़ि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदों नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुँतु अकसायठिइ बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

१ इतर दर्शनोंमें कर्मोंकी स्थिति तो देखनेमें नहीं आई किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं-एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविधं नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्-दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयम्।' अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।' योगद० २-१२।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

'मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥ २३९ ॥'

मुहूर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पाच कर्मोंकी अन्तमुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ—स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसवे गुणस्थान तक ही होता है। अत दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बधता है, शेष सातकर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बधते हैं। अत स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अत अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बंधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमे उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने '**मुत्तु अकसायठिइ**' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहापर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है।।

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियाकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्घावरणअसाए तीस अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अट्ठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, प्रथम [illegible] और [illegible] स्थिति दस दस [illegible] है और आगेके [illegible] [illegible] सागरकी वृद्धि होती

दूसरे संस्थान और दूसरे संहननकी उत्कृष्टस्थिति बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तीसरे संस्थान और तीसरे संहननकी स्थिति चौदह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। इसी प्रकार चौथेकी सोलह, पाँचवेंकी अठारह और छठेकी बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति जाननी चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें कुछ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। असलमें उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिसे मूल प्रकृतियोंकी स्थिति कोई जुदी नहीं होती। किन्तु उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिमें से जो स्थिति सबसे अधिक होती है, वही मूल प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति मान ली गई है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी भी उतनी ही स्थिति है, जितनी मूल कर्मोंकी बतला आये हैं। किन्तु नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें अधिक विषमता पाई जाती है। उदाहरणके लिये संस्थान और संहनन को ही ले लीजिये। प्रथम संस्थान और संहनन की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर है और ऊपरके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो कोटिकोटि सागरकी वृद्धि होते होते, अन्तिम संस्थान और अन्तिम संहननकी स्थिति बीस कोटिकोटि सागर हो जाती है। इस विषमताका कारण है कषायकी हीनाधिकता। जब जीवके भाव अधिक संक्लिष्ट होते हैं, तो स्थितिबन्ध भी अधिक होता है और जब कम संक्लिष्ट होते हैं तो स्थितिबन्ध भी कम होता है। इसीलिये जितनी भी प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, प्रायः सभीकी स्थिति अप्रशस्त प्रकृतियोंकी स्थितिसे कम होती है, क्योंकि उनका बन्ध प्रशस्त परिणाम वाले जीवके ही होता है॥

चालीस कसाएसु मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दनिलाईणं ॥ २९ ॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सोलह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थिति

चालीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। मृदुस्पर्श, लघुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श, सुरभिगंध, श्वेतवर्ण और मधुररस, नामकर्मकी इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। आगेके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रसकी स्थिति अढ़ाइ कोटिकोटि सागर अधिक अधिक जाननी चाहिये। अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढे बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। लालवर्ण और कषायरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। नीलवर्ण और कटुकरस नाम कर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढे सतरह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। और कृष्णवर्ण और तिक्तरसकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

दस सुहविहगइउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रशस्तविहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक, स्थिर आदि छह अर्थात् स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश कीर्ति, पुरुषवेद, रति और हास्य प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर प्रमाण है। और मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, स्त्रीवेद, और सातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

भय-कुच्छ-अरइ-सोए विउव्वि-तिरि-उरल-निरयदुग-नीए।
तेयपण अथिरछक्के तसचउ-थावर-इग-पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु-कुखगइ-सासचउ-गुरु-कक्खड-रुक्ख-सीय-दुग्गंधे।

---

१ कर्मप्रकृति वगैरहमें वर्णचतुष्कके अवान्तर भेदोंकी स्थिति नहीं बतलाई है, किन्तु पञ्चसंग्रहमें बतलाई है। यथा—

"सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाणं।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी, अबिलहालिद्दपुव्वाणं ॥ २४० ॥"

वीसं कोडाकोडी एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥

अर्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नीचगोत्र, तैजसशरीर आदि पाँच, अर्थात् तैजस शरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, अस्थिर आदि छह, अर्थात् अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, और अयश कीर्ति, त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, नपुंसकवेद, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क अर्थात् उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत, दुर्गन्ध, इन बयालीस प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अबाधा जानना चाहिये।

भावार्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्टस्थिति बन्धका निरूपण करते हुए, उक्त गाथाके अन्तमें उसकी अबाधाकालका प्रमाण भी बतला दिया है। बंधनेके बाद जबतक कर्म उदयमें नहीं आता, तब तकका काल अबाधाकाल कहा जाता है। कर्मोंकी उपमा मादक द्रव्यसे दी जाती है। मदिराके समान आत्मापर असर डालनेवाले कर्मकी जितनाही अधिक स्थिति होती है उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधनेके बाद बिना फल दिये ही आत्मामें पड़ा रहता है। उसे ही अबाधाकाल कहते हैं। उस कालमें ही कर्म विपाकके उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतनेपर अपना फल देना शुरू कर देता है। इसलिये ग्रन्थकारने कर्मों का अबाधाकाल उनकी स्थितिके

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है—

"दस सेसाण वीसा एवइयाबाह वाससया ॥ २४३ ॥"

२ दिगम्बर परम्परामें इसे आबाधा कहते हैं।

अनुपातसे बतलाते हुए कहा है कि जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति होती है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। इसका आशय यह है कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज एक कोटिकोटि सागरकी स्थिति को लेकर जो कर्म बाधा है, वह आजसे सौ वर्षके बाद उदयमें आवेगा और तबतक उदयमें आता रहेगा जबतक एक कोटिकोटि सागर प्रमाणकाल समाप्त न होगा। कहनेका सारांश यह है कि ऊपर कर्मोंकी जो उत्कृष्टस्थिति बतलाई है तथा आगे भी बतलावेंगे उस स्थितिमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसीसे शास्त्रकाराने स्थितिके दो भेद किये हैं—एक कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति अर्थात् बंधनेके बाद जबतक कर्म आत्माके साथ ठहरता है, उतने कालका परिमाण, और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् अबाधाकाल-रहित स्थिति। यहां पहली ही स्थिति बतलाई गई है। दूसरी स्थिति जाननेके लिये पहली स्थितिमेसे अबाधा काल कमकर देना चाहिये। जो इस प्रकार है—

पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, असातवेदनीय और नौ दर्शनावरण कर्मोंमे से प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटिकोटि सागर है और एक कोटिकोटि सागर की स्थितिमें एकसौ वर्ष अबाधाकाल होता है, अतः उनका अबाधाकाल ३०×१००=तीन हजार वर्ष जानना चाहिये। इसी अनुपातके अनुसार सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिकका अबाधाकाल अट्ठारहसौ वर्ष, समचतुरस्र-संस्थान और वज्रऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और ऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वातिसंस्थान और नाराचका अबाधाकाल चौदहसौ वर्ष, कुब्ज-

१ "इह द्विधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना।" कर्मप्र० मलय० टी० पृ० १६३।

संस्थान और अर्धनाराचका अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामनसंस्थान और कीलकसंहननका अबाधाकाल अट्ठारह सौ वर्ष, हुंडसंस्थान और सेवार्तसंहननका दो हजार वर्ष, सोलह कषायोंका चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगंध, श्वेतवर्ण और मधुर रसका एक हजार वर्ष, हरितवर्ण और आम्लरसका साढ़े बारहसौ वर्ष, लालवर्ण और कषायरसका पन्द्रह सौ वर्ष, नीलवर्ण और कटुकरसका साढ़े सतरहसौ वर्ष, कृष्णवर्ण और तिक्त रसका दो हजार वर्ष, प्रशस्त विहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक स्थिरपञ्चक, पुरुषवेद, हास्य और रतिका एक हजार वर्ष, मिथ्यात्वका सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातवेदनीयका पन्द्रहसौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यग्द्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीचगोत्र, तैजसपञ्चक, अस्थिरपञ्चक, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत और दुर्गन्ध का अबाधाकाल दो हजार वर्ष जानना चाहिये ॥

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

अर्थ—तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोटीकोटी सागर है, और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा, उनकी जघन्यस्थिति संख्यातगुणी हीन है। अर्थात् तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जितनी उत्कृष्टस्थिति है, संख्यातगुणी हीन वही स्थिति उनकी जघन्यस्थिति जाननी चाहिये। मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है।

भावार्थ—इस गाथाके तीन चरणोंमें तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विकका उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा अबाधा बतलाई है। यद्यपि अभी जघन्यस्थिति बतलानेका प्रकरण नहीं आया था, तथापि प्रसंगोपात्तके भयसे इन तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति भी बतलादी है। इन तीनों प्रकृतियों-

की दोनो ही स्थिति सामान्यसे अन्त कोटीकोटी सागरप्रमाण है किन्तु उत्कृष्ट स्थितिसे जघन्यस्थितिका परिमाण सख्यातगुणाहीन अर्थात् सख्यातवें भाग प्रमाण है। तथा उनकी उत्कृष्ट और जघन्य अबाधा भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। किन्तु स्थिति की तरह उत्कृष्ट अबाधासे जघन्य अबाधा भी सख्यातगुणी हीन है। इसप्रकार उक्त तीनों कर्मोंकी स्थिति अन्त कोटीकोटीसागर और अबाधा अन्तर्मुहूर्त जाननी चाहिये। यहा एक बात बतला देना आवश्यक है, वह यह कि शरीरोंकी स्थिति बतलाते हुए उनके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मकी तो स्थिति बतलादी है, किन्तु बन्धन संघात वगैरहकी स्थिति नहीं बतलाई है, अत जिस शरीरनामकी जितनी स्थिति है उसके बन्धन नामकर्म और सघात नामकर्म की भी उतनी ही स्थिति समझनी चाहिये। इसीसे टबे

---

१ कुछ कम कोटीकोटीको अन्त कोटीकोटी कहते हैं। जिससे आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोटीकोटीसागरसे कुछ कम है, तथा अबाधा अन्तर्मुहूर्त है। कर्मकाण्ड गा० १५७ की भाषाटीकामें प० टोडरमलजीने आबाधाके आधारपर इस अन्त कोटीकोटीका प्रमाण निकाला है। जिसका भाव यह है कि एक कोडाकोडी सागरकी स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है। सौ वर्षके स्थूलरूपसे दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त होते हैं। जब इतने मुहूर्त आबाधा एक कोडाकोडी सागरकी स्थिति की होती है तो एक मुहूर्त आबाधा कितनी स्थितिकी होती है? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर एक कोडाकोडीमें दसलाख अस्सीहजार मुहूर्तका भाग देनेसे नौ करोड पच्चीस लाख, बानबे हजार पांचसौ बानबे तथा एकके एकसौ आठ भागोंमें से चौसठ भाग लब्ध आता है-(९२५९२५९२$\frac{६४}{१०८}$)। इतने सागरप्रमाणस्थितिकी एक मुहूर्त आबाधा होती है, या यू कहिये कि एक मुहूर्त आबाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की होती है। इसी हिसाबसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आबाधावाले कर्मकी स्थिति जानलेनी चाहिये।

में शरीरके साथ साथ उसके सब भेद प्रभेदोंको भी गिनाकर उन सबकी वही स्थिति बतलाई है, जो मूल शरीर नामकर्मकी स्थिति है।

शंका—यदि तीर्थङ्करनाम कर्मकी जघन्यस्थिति भी अन्त कोटीकोटी-सागर है, तो तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव तिर्यञ्चगतिमें जाय बिना नहीं रह सकेगा, क्योंकि तिर्यञ्चगतिमें भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती। किन्तु तिर्यञ्चगतिमें जीवोंके तीर्थङ्करनाम कर्मकी सत्ता का निषेध किया है अत इतना काल कहा पूर्ण करेगा ? तथा, तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होना बतलाया है। अन्त-कोटीकोटी सागरकी स्थितिमें यह भी कैसे बन सकता है ?

---

१ पञ्चसङ्ग्रह (गा०८०) और सर्वार्थसिद्धिमें (पृ०३८) पञ्चेन्द्रियपर्यायका काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकायका काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है। इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ले सकता है और न लगातार त्रस ही हो सकता है। अत अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध करके जीव इतने कालको केवल नारक, मनुष्य और देव पर्यायमें ही जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता। उसे तिर्यञ्चगतिमें जरूर जाना पड़ेगा।

२ "ज, बज्झई स तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताण ॥ १८० ॥" आव० नि०।

३ पञ्चसंग्रह में तीर्थङ्कर प्रकृतिकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है—

"अतो कोडीकोडी तित्थयराहार तीए सत्ताओ।
तेत्तीस पलिय सत्त्व निकाइयाण तु उक्कोसा ॥२४९॥
अतो कोडीकोडी, ठिइएवि कह न होइ तित्थयरे।
सत किंचियकाल तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥२५०॥
जमिह निकाइयतित्थ तिरियमवे त निसेहिय सत्त।
इयरमि नत्थि दोसो उव्वट्टणुवट्टणासज्झे ॥ २५१ ॥"

उत्तर–तिर्यञ्च गतिमें जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी सत्ताका निषेध किया है वह निकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मकी अपेक्षासे किया है। अर्थात् जो तीर्थङ्कर नामकर्म अवश्य अनुभवमें आता है, उसीका तिर्यञ्चगतिमें अभाव बतलाया है। किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका निषेध तिर्यञ्चगतिमें नहीं किया है। इसी प्रकार

अर्थात्–तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की उत्कृष्टस्थिति अन्त कोटिकोटि सागर प्रमाण है। यह स्थिति अनिकाचित तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी स्थिति तो अन्त कोटिकोटि सागरके संख्यातवें भाग से लेकर तीर्थङ्करकी तो कुछ कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विककी पल्यके असंख्यातवें भाग है। शङ्का–अन्त कोटिकोटि सागरकी स्थितिवाले तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए भी जीव कबतक तिर्यञ्च न होगा? यदि होगा तो आगमविरोध आता है। उत्तर–जो निकाचित तीर्थङ्कर कर्म है आगम में, तिर्यञ्चगति में उसीकी सत्ताका निषेध किया है। जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस अनिकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मके तिर्यञ्चगति में रहनेपर भी कोई दोष नहीं है।

१ श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

"कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरणामकम्मठिई।
बज्झई य तयणंतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं ॥ ७८ ॥
तट्ठिइमोसक्केउ तइयभवो अहव जीवसंसारो।
तित्थयरभवाओ वा ओसक्केउ भवे तइए ॥ ७९ ॥
ज बज्झइत्ति भणिय तत्थ निकाइज्ज इत्ति णियमोय।
तदवझफल नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे ॥ ८० ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्कर नामकर्मकी स्थिति कोटिकोटिसागर प्रमाण है, और तीर्थङ्करके भवसे पहलेके तीसरे भवमें उसका बन्ध होता है। इसका आशय

तीर्थङ्करके भवसे पूर्व तीसरे भवमें जो तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धका कथन है वह भी निकाचित तीर्थङ्करप्रकृतिकी अपेक्षासे ही है। जो तीर्थङ्कर प्रकृति निकाचित नहीं है, अर्थात् जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है वह तीन भवसे भी पहले बंध सकती है।

नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति पहले बतला आये थे, यहां मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है॥

इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो॥ ३४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक

यह है कि तीसरे भवमें उद्वर्तन अपवर्तनके द्वारा उस स्थितिको तीन भवोंके योग्य करलिया जाता है। अर्थात् तीन भवोंमें तो कोटिकोटि सागर की स्थिति पूर्ण नहीं होसकती अतः अपवर्तनकरणके द्वारा उस स्थितिका ह्रास करदिया जाता है। शास्त्रकारोंने तीसरे भवमें जो तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका विधान किया है, वह निकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये है, निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य देती है। किन्तु अनिकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये कोई नियम नहीं है, वह तीसरे भवसे पहले भी बंध सकती है।

१ जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लग सकता उसे निकाचित कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के बढ़ाने को उद्वर्तन कहते हैं, और स्थिति और अनुभागके कमकरने को अपवर्तन कहते हैं। करणोंका स्वरूप जानने के लिये देखो-कर्मप्रकृति गा० २ और पञ्चसंग्रह गा० १ (बन्धनकरण) की टीकाएँ तथा कर्मकाण्ड गा० ४३७-४४०।

२ पूर्वका प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति सयसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ ६३॥" ज्योतिष्क०

पूर्वकोटिप्रमाण बाधते हैं। असज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुकर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असख्यातवे भाग प्रमाण बाधते हैं। निरुपक्रम आयुवाले, अर्थात् जिनकी आयुका अपवर्तनघात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी अबाधा छह मास होती है। तथा, शेष मनुष्य और तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी आबाधा अपनी अपनी आयुके तीसरे भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—उक्त गाथाओंके द्वारा कर्मप्रकृतियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बध केवल पर्याप्तक सज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अत वह स्थिति पर्याप्तक सज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाई गई है। शेष जीव उस स्थितिम से कितनी कितनी स्थिति बाधते हैं, इसका निर्देश आगे करेंगे। यहा केवल आयुकर्मकी अपेक्षासे यह बतलाया है कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असज्ञी जीव आयुकर्मकी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें से कितना स्थितिबध करते हैं? तथा उसकी कितनी अबाधा होती है?

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यञ्चगति या मनुष्य-

---

अर्थात्–७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्षका एक पूर्व होता है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि पृ० १२८ में भी पाई जाती है।

१ कर्मकाण्ड गा० ५३८ ५४३ में, किस गतिके जीव मरण करके किस किस गतिमें जन्म लेते हैं, इसका खुलासा किया है। तिर्यञ्चोंके सम्बन्ध में लिखा है–

"तेउदुग तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्मे य देवदुगे ॥ ५४० ॥"

अर्थात्–तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेते हैं। शेष एकेन्द्रिय, अपर्याप्त और विकलत्रय जीव तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्मलेते हैं किन्तु तीर्थङ्कर वगैरह नहीं हो सकते। तथा, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा घमा नामके

गतिमें ही जन्मलेते हैं। वे मरकर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्योंमें भी कर्मभूमिजोंमें ही जन्मलेते हैं, भोगभूमिजोंमें नहीं। अत वे आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक पूर्वकोटि प्रमाण बाध सकते हैं, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि-की होती है। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरण करके चारोंही गतिमें उत्पन्न हो सकता है, अत वह चारोंमें से किसी भी आयुका बन्ध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्योंमें कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यञ्चोंमें भी कर्म-भूमिज तिर्यञ्चही होता है, देवोंमें भवनवासी और व्यन्तर ही होता है, तथा नरकमें पहले नरकके तीन पाथड़ों तक ही जन्मलेता है, अत उसके पल्या-पमके असख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्मका बन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवके आयुकर्मके स्थितिबन्ध का निर्देश करके भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे उसकी अबाधा बतलाई है।

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें एक बात ध्यान रखने योग्य है। अबाधाके सम्बन्धमें ऊपर जो एक नियम बतला आये हैं कि एक कोडाकोडि सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्मोंकी ही अबाधा निकालनेके लिये है। आयुकर्मकी अबाधा स्थितिके अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इसासे कर्मकाण्डमें लिखा है—

"आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥"

अर्थात्—'जैसे अन्यकर्मोंमें स्थितिके प्रतिभागके अनुसार आबाधाका प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्ममें नहीं निकाला जाता।'

इसका कारण यह है कि अन्यकर्मोंका बन्ध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुकर्मका बन्ध अमुक अमुक कालमें ही होता है। गतिके अनुसार

पहले नरक में और देवद्विक अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरदेवों में उत्पन्न होते हैं।

वे अमुक अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें जब भुज्यमान आयुके दो भाग बीत जाते हैं, तब परभवकी आयुके बंधका काल उपस्थित होता है। जैसे, यदि किसी मनुष्यकी आयु ९९ वर्षकी है, तो उसमें से ६६ वर्ष बीतनेपर वह मनुष्य परभवकी आयु बांध सकता है, इससे पहले उसके आयुकर्मका बंध नहीं हो सकता। इसीसे मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बध्यमान आयुकर्मका अबाधाकाल एक पूर्वकोटिका तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभागमें परभवकी आयु बंधती है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी अपेक्षासे आयुकर्मकी अबाधाकी व्यवस्था। भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव और नारक अपनी अपनी आयु के छह मास शेष रहनेपर परभवकी आयु बांधते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने निरुपक्रम आयुवालोंके बध्यमान आयुका अबाधाकाल छहमास बतलाया है।

---

१ आयुबन्ध तथा उसकी अबाधाके सम्बन्धमें मतभेदको दर्शाते हुए पञ्चसङ्ग्रहमें रोचक चर्चा है, जो इस प्रकार है—

'सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं।
इयराणं चउसुवि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥ २४४ ॥
वोलीणेसु दोसु भागेसु आउयस्स जो बंधो।
भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्के वि ॥ २४५ ॥
पलियासंखेज्जंसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा।
छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहु होइ ॥ २४६ ॥
पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच ते इमं भणियं।
भणिअं पि नियअबाहं आउ बंधंति अमुयंता ॥ २४७ ॥
निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाण भवट्ठिइ तंसो।
पलियासंखेज्जंसं जुगधम्मीणं वयंतन्ने ॥ २४८ ॥"

अर्थ—'देवायु और नरकायु की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर है। तिर्यञ्चायु

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें जो दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य है वह यह है कि सातकर्मोंकी ऊपर जो स्थिति बतलाई गई है, उसमें उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे, मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोटिकोटि सागरमें ही सम्मिलित हैं। अतः यदि मिथ्यात्वकी अबाधारहित स्थिति, जिसे हम पहले 'अनुभवयोग्या' नामसे कह आये हैं, जानना हो तो सत्तर कोटिकोटि सागर में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्मकी स्थितिमें

और मनुष्यायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है। तथा चारों आयुओंकी एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

शङ्का–आयुके दो भाग बीतजाने पर जो आयुका बन्ध कहा है वह असंभव होनेसे चारों ही गतियों में नहीं घटता है। क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यञ्च कुछ अधिक पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर परभवकी आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। तथा देव, और नारक भी अपनी आयु के छह माहसे अधिक शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु छहमास आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। किन्तु उनकी आयुका त्रिभाग बहुत होता है। तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयुका त्रिभाग एक पल्य और देव तथा नारकोंकी आयुका त्रिभाग ग्यारह सागर होता है।

उत्तर–जिन तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयु एक पूर्व कोटि होती है उनकी अपेक्षासे ही एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है। तथा यह अबाधा अनुभूयमान भवसम्बन्धी आयुमें ही जाननी चाहिये परभव सम्बन्धी आयुमें नहीं क्योंकि परभवसम्बन्धी आयुकी दलरचना प्रथम समय मे ही होजाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। अतः एक पूर्व कोटीकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंकी परभवकी आयुकी उत्कृष्ट अबाधा

यह बात नही है। आयुकर्मकी तेतीस सागर, तीन पल्य, पल्यका असख्यातवा भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, तथा आगे भी बतलायेंगे, वह शुद्ध स्थिति है। उसमे अबाधाकाल सम्मिलित नही है। इस अन्तरका कारण

पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा छह मास होती है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेंद्रिय जीवोंके अपनी अपनी आयुके त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण कहते हैं।"

चन्द्रसूरि रचित सग्रहणीसूत्रमें इसी बातको और भी स्पष्ट करके लिखा है–

"बधति देवनारय असखनरतिरि छमाससेसाऊ।
परभवियाऊ सेसा निरुवक्कमतिभागसेसाऊ ॥ ३०१ ॥
सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
सत्तावीस इमेवा अतमुहुत्तंतिमेवावि ॥ ३०२ ॥"

अर्थात्–'देव, नारक और असख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्च छह मासकी आयु बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं। शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयुका त्रिभाग बाकी रहने पर परभवकी आयु बाधते है। और सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयुके त्रिभागमें अथवा नौवें भागमें, अथवा सत्ताईसवें भागमें परभवकी आयु बांधते हैं। यदि इन त्रिभागोंमें भी आयुबध नहीं करपाते तो अतिम अन्तमुहूर्तमें परभवकी आयु बांधते हैं।'

गो० कर्मकाण्डमें आयुबन्धके सम्बन्धमें साधारण तौर पर तो यही विचार प्रकट किये हैं। किन्तु देव, नारक और भोगभूमिजोंकी छह मास प्रमाण आबाधा को लेकर उसमें उक्त निरूपणसे मौलिक मतभेद है। कर्मकाण्ड के मतानुसार छह मासमें आयु बन्ध नही होता, किन्तु उसके

यह है कि अन्य कर्मोंकी अबाधा स्थितिके अनुपातपर अवलम्बित है अत सुनिश्चित है। किन्तु आयुकर्मकी अबाधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके त्रिभागमें भी आयुकर्मका बन्ध अवश्यभावी नहीं है, क्योंकि त्रिभागका भी त्रिभाग करते करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुबन्ध नहीं होता तो मरणसे अन्तमुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्मकी स्थितिमें उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अबाधाका प्रमाण जानना चाहिये।

त्रिभागमें आयुबन्ध होता है। और उस त्रिभागमें भी यदि आयु न बंधे तो छह मासके नौवें भागमें आयुबन्ध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके त्रिभागमें परभव की आयुका बन्ध होता है, वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके त्रिभागमें आयुबन्ध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभूमियोंको लेकर मतभेद है। किन्हींका मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभागमें परभवकी आयुका बन्ध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसके सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागोंमें आयुबन्ध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तमुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकाके असंख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बन्ध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्डमें गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बन्धन करणमें गाथा ७० से स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्धको लेकर

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति और अबाधाको बतला कर अब उनकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

लहुठिइबंधो संजलणलोह-पणविग्घ-नाण-दंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३६ ॥

अर्थ—सज्वलन लोभ, पॉच अन्तराय, पॉच ज्ञानावरण और चार

तीनोंही ग्रन्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। केवल एक बात उल्लेखनीय है वह यह कि कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिमें वर्णादिचतुष्ककी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और कर्मग्रन्थमें उसके अवान्तर भेदोंको लेकर दस कोटी कोटी सागरसे लेकर बीस कोटिकोटि सागर तककी स्थिति बतलाई है। इस अन्तरका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञटीकामें ग्रन्थकारने स्वयं कर दिया है। वे लिखते हैं—

"यद्यपि वर्ण गन्ध रस स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटीकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसंग्रहेऽभिहिता, अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता। बन्धं तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयम् ॥ २९ ॥'

अर्थात्—यद्यपि बन्ध अवस्थामें वर्णादि चार ही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये जाते। कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें उनके भेदोंको न लेकर, वर्णादि चतुष्ककी स्थिति बीस कोटिकोटी सागर प्रमाण बतलाई है। तथापि पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके बीस भेदोंकी भी पृथक् पृथक् स्थिति बतलाई है अतः हमने भी वैसाही कथन किया है। बन्धकी अपेक्षासे तो वर्णादि चार ही गिनने चाहिये, उनके भेद नहीं गिनने चाहिये।' उत्कृष्ट अबाधाके निरूपणमें भी कोई अन्तर नहीं है।

पञ्चसंग्रह में गा० २३८ से स्थितिबन्धका निरूपण प्रारम्भ होता है।

यह है कि अन्य कर्मोंकी अबाधा स्थितिके अनुपातपर अवलम्बित है अत सुनिश्चित है। किन्तु आयुकर्मकी अबाधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके त्रिभागमें भी आयुकर्मका बंध अवश्यंभावी नहीं है, क्योंकि त्रिभागका भी त्रिभाग करते करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुबन्ध नहीं होता तो मरणसे अन्तमुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्मकी स्थितिमें उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अबाधाका प्रमाण जानना चाहिये।

त्रिभागमें आयुबंध होता है। और उस त्रिभागमें भी यदि आयु न बंधे तो छह मासके नौवें भागमें आयुबंध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंचोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके त्रिभागमें परभव की आयुका बंध होता है वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके त्रिभागमें आयुबंध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभूमियोंको लेकर मतभेद है। किन्हींका मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभागमें परभवकी आयुका बंध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसके सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागोंमें आयुबन्ध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तमुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सवमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकाके असंख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बन्धन करणमें गाथा ७० से स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्धको लेकर

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका वह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चारों आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकार ने उनकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातावेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{3}{7}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{3}{14}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटी सागरमें सत्तर कोटिकोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{15}{70}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{3}{14}$ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिककी $\frac{9}{35}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{18}{70}$ आता है। ऊपर और नीचेके अङ्कोंको २ से काटने पर $\frac{9}{35}$ शेष रहता है),

दर्शनावरणका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यश कीर्ति और उच्चगोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण होता है। और सातवेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

भावार्थ—इस गाथासे जघन्य स्थितिबन्धका वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें अठारह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके प्रमाणका निर्देश किया है। यह स्थितिबन्ध अपने अपने बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अर्थात् जब इन प्रकृतियोंके बन्धका अन्तकाल आता है, तभी उक्त जघन्य स्थितिबन्ध होता है। अतः संज्वलन लोभका जघन्य स्थितिबन्ध नवें गुणस्थानमें और पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यश कीर्ति और उच्च गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त प्रमाण जो जघन्यस्थिति बतलाई है, वह सकषाय बन्धककी अपेक्षासे बतलाई है। अकषाय बन्धककी अपेक्षासे तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें उसकी जघन्यस्थिति दो समय मात्र ही होती है, यह पहले कह आये हैं॥

दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं॥ ३६॥

अर्थ—संज्वलन क्रोधकी दो मास, संज्वलन मानकी एक मास, संज्वलन मायाकी एक पक्ष और पुरुष वेदकी आठ वर्ष जघन्यस्थिति है। तथा, शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिये।

---

१ तुलना करो—
"दो मास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं॥ २५५॥" पञ्चसं०
२–साओ। ३–द्दं।

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका वह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके कालमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चारों आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकारने सबकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{३}{७}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{४}{७}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{३}{१४}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{१५}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{३}{१४}$ शेष रहता है), वामनत्रिक और कीलकत्रिककी $\frac{९}{३५}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{१८}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको दो से काटने पर $\frac{९}{३५}$ शेष रहता है), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, प्रशस्त विहायोगति, वज्रर्षभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, सुगन्ध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्णस्पर्शकी $\frac{१}{७}$ सागर, शेष शुभ और अशुभ वर्णादि-[1]

---

१ बन्ध अवस्थामें वर्णादि चारही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये

"वग्गुक्कोसठिईण मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं ।
सेसाण तु जहन्ना पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ ७९ ॥"

अर्थात्‌-अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थिति में मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट-स्थितिका भाग देनेपर जो लब्ध आता है, उसमें पल्यके असंख्यातवें भागको कमकर देनेपर शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आती है। इसके अनुसार दर्शनावरण और वेदनीयके वर्गकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेपर लब्ध $\frac{3}{7}$ सागर आता है, उसमें पल्यके असंख्यातवें भागको कमकर देनेपर निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति आती है। दर्शनमोहनीय वर्गकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्ध एक सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर मिथ्यात्वकी जघन्यस्थिति आती है। कषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति चालीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध $\frac{4}{7}$ सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर प्रारम्भकी बारह कषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नोकषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध $\frac{2}{7}$ सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर पुरुषवेदके सिवाय शेष आठ नोकषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्धमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और यशःकीर्तिको छोड़कर नामकर्मकी शेष सत्तावन प्रकृतियोंकी और नीचगोत्रकी जघन्यस्थिति आती है।

सामान्यसे सब प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाकर, अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंके योग्य प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासखसहीण लहुबधो ।
कमसो पणवीसाए पन्ना-सय-सहस्ससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसखभागूणो ।

अर्थ—दूसरे पहले का ३६ वीं गाथामें, अपने अपने वर्गकी उत्कृष्ट-स्थितिम मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर जो लब्ध निकाला है, वही एकेन्द्रिय जीवोंके उन उन प्रकृतियाके उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण होता है। उस उत्कृष्टस्थितिबन्धम पल्यके असंख्यातव भागको कमकर देनेपर एके-

---

१ जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ऊपर उल्लेख बतलाई है, उनके सम्बन्धमें तो कर्मप्रकृति, कर्मकाण्ड और कर्मग्रन्थमें कोई अन्तर नहीं है। शेष पिचासी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें जो कुछ वक्तव्य है वह इस प्रकार है—कर्म काण्डमें उनके बारेमें केवल इतना लिख दिया है—

'सेसाण पज्जत्तो बादर एइंदियो विसुद्धो य।
बधदि सव्वजहण्ण सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ १४३ ॥''

अर्थात्-शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितियोंको बादर पर्याप्तक विशुद्ध परिणामवाला एकेन्द्रिय जीव अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिके प्रतिभागमें बांधता है।

और आगे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उक्त प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्टस्थिति बतलानेके लिये अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर एकेन्द्रियके योग्य उत्कृष्टस्थिति, और उसमें पल्यका असख्यातवां भाग न्यून करके जघन्यस्थिति बतलाई है। उक्तगाथा १४३ में जिस प्रतिभागका उल्लेख किया है उस प्रतिभागको आगे की गाथामें उक्त प्रकारसे स्पष्ट करदिया है। अत कर्मकाण्डमें जो शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध अलगसे नहीं बतलाया है, उसका कारण यही है कि उनका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीव ही करता है और

द्रिय जीवके जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है। एकेंद्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे पचीसगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवके होता है, पचासगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है, सौगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके होता है, एक हजारगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके होता है। अपने अपने उत्कृष्टस्थितिबन्धमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर अपने अपने जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है।

भावार्थ–इससे पूर्वकी गाथाओंमें उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्यसे बतलाई है। किन्तु इस गाथामें एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रियकी अपेक्षासे उत्तर

उसके बंधने योग्य प्रकृतियोंकी स्थिति आगे बतलाई गई है। कर्मप्रकृतिमें शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हुए जो गाथा दी है, वह ३६ वीं गाथाके भावार्थमें लिख आये हैं। उसके आगे एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे प्रकृतियोंकी स्थितिका परिमाण बतलाते हुए लिखा है–

एगेंदिदियहरो सव्वासि ऊणसंजुओ जेट्ठो।

अर्थात्–अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्धमें से पल्यके असंख्यातवें भागको कम करनेसे जो अपनी अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रियके योग्य जघन्य स्थितिका प्रमाण जानना चाहिये। कम किये हुए पल्यके असंख्यातवें भागको उस जघन्य स्थितिमें जोड़ देनेपर उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण होता है।

कर्मग्रन्थके रचयिताने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हुए गाथा ३६ के उत्तरार्द्धका पहला व्याख्यान पञ्चसंग्रहके अभिप्रायानुसार किया है। और दूसरा व्याख्यान कर्मप्रकृतिके अनुसार किया है। दोनों व्याख्यानोंमें एक मौलिक अन्तर तो स्पष्टही है कि पञ्चसंग्रह में अपनी अपनी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग

प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति बतलानेका उपक्रम किया है। गाथा न० ३६ में शेष ८५ प्रकृतियोंके जघन्यस्थितिबन्धको बतलानेके लिये, उन प्रकृतियोंके वर्गोंकी उत्कृष्टस्थितियोंमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देने का जो विधान किया है, एकेन्द्रिय जीवके उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टस्थिति-

---

देकर जघन्यस्थिति निकाली है, जैसा कि कर्मकाण्डमें भी पाया जाता है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिका भाग देकर और उसमें पल्यका असख्यातवाँ भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है। अत जहातक प्रकृतियोंकी स्थितिमें भाग देनेका सम्बन्ध है वहातक तो कर्मकाण्ड पञ्चसङ्ग्रहके मतसे सहमत है। किन्तु आगे जाकर वह कर्मप्रकृतिसे सहमत हो जाता है। क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहके मतानुसार प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग देने पर जो लब्ध आता है वह तो एकेन्द्रियकी अपेक्षासे जघन्यस्थिति होती है और उसमें पल्यका असख्यातवाँ भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्टस्थिति होती है। किन्तु कर्मप्रकृति और कर्मकाण्डके मतानुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही उत्कृष्टस्थिति होती है और उसमें पल्यका असख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर जघन्यस्थिति होती है। अत कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहके मतमें बड़ा अन्तर है।

कर्मप्रकृतिका 'वग्गुक्कोसठिईण' आदि गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने भी पञ्चसङ्ग्रहके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—"पञ्चसग्रहे तु वर्गोत्कृष्टस्थितिविभजनीयतया नाभिप्रेता किन्तु 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ ज लद्ध' ॥ ४८ ॥ इति ग्रन्थेन स्वस्वोत्कृष्टस्थितिर्मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थितिपरिमाणम्।" अर्थात् पञ्चसग्रहमें तो अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग नहीं दिया जाता। किन्तु अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देने पर जो लब्ध आता है वही जघन्यस्थितिका परिमाण होता है।

बन्धका प्रमाण निकालनेके लिये भी यही विधान काममें लाया जाता है। उस विधानके अनुसार विवक्षित प्रकृतिकी पहले बतलाई गई उत्कृष्टस्थिति-में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देनेपर जितना लब्ध आता है एके-न्द्रिय जीवके उस प्रकृतिका उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। जैसे, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अन्तराय, इन इक्कीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवके ३/७ सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंके कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोड़ीकोड़ी सागर है। उसमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिसे भाग देनेपर ३/७ सागर लब्ध आता है। इसी क्रमसे अन्य प्रकृतियोंकी स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्वकी एक सागर, सोलह कषायोंकी ४/७ सागर, नौ नोकषायोंकी २/७ सागर, वैक्रिय-

---

१ एकेन्द्रियादिक जीवोंके वैक्रियषट्कका बन्ध नहीं होता अतः उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है। किन्तु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियके उसका बन्ध होता है, अतः उसकी अपेक्षासे वैक्रियषट्ककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति पञ्चसंग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाई है–

"वेउव्विछक्कि त सहस्सताडिय ज असन्निणो तेसिं।
पलियासंखंसूण ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥ २५६ ॥"

अर्थात्–"उक्तरीतिके अनुसार वैक्रियषट्ककी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोटीकोटी सागरका भाग देने से जो २/७ स्थिति आती है उसे एक हजारसे गुणा करनेपर असंज्ञी जीवके वैक्रियषट्ककी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आता है। उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेसे जघन्यस्थितिका प्रमाण आता है।' यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले नरकद्विक और वैक्रियद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध बीस कोटीकोटी सागर और देवद्विकका दस कोटीकोटी सागर बतलाया है। तथापि यहाँ उसकी जघन्यस्थिति बतलानेके लिये बीस कोटीकोटी सागर

पञ्चक, आहारकद्विक और तीर्थङ्करको छोड़कर, एकेन्द्रियके बंधने योग्य नाम-कर्मकी शेष अट्ठावन प्रकृतियोंकी और दोनों गोत्रोंकी $\frac{2}{7}$ सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति आती है। इस उत्कृष्टस्थिति बन्धमेंसे पल्यका असंख्यातवा भाग कम करदेने पर एकेन्द्रिय जीवके जघन्य स्थितिबंधका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिकी $\frac{2}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्टस्थिति निकाली है, उसमें से पल्यका असंख्यातवा भाग कम करदेने पर वही उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति होजाती है।

गाथाके पूर्वार्धद्वारा एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका परिमाण बतलाकर, उत्तरार्धद्वारा द्वीन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उसका परिमाण बतलाया है। जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसे पचीससे गुणा करनेपर द्वीन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवके एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे पचीस गुना अधिक होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति एक सागर-प्रमाण बंधती है। तो द्वीन्द्रियजीवके उसकी उत्कृष्टस्थिति पचीस सागर प्रमाण बंधती है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उससे पचास गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्व-की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर बंधती है तो त्रीन्द्रियके पचास सागर प्रमाण बंधता है। ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे सौगुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

प्रमाण ही लिया गया है जैसा कि उसकी टीकामें (पृ० २२८ पू०) आचार्य मलयगिरिजीने लिखा है—"देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटी-प्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय कोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते।"

चतुरिन्द्रिय जीव करता है, अत मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके सौ सागर प्रमाण होता है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझलेना चाहिए। तथा एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे एक हजार गुणा स्थितिबन्ध असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके होता है। इसके अनुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके एक हजार सागर प्रमाण बंधती है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये।

---

१ कर्मकाण्डमें एकेन्द्रियादिक जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जिस शैलीसे बतलाया है स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उसे यहां उद्धृत करते हैं–

'एय पणकदी पण्णं सय सहस्सं च मिच्छवरबन्धो।

इगिविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥ १४४ ॥"

अर्थात्–एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके मिथ्यात्वका उत्कृष्टस्थिति बन्ध क्रमश एक सागर पचीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण होता है। तथा उसका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियके पल्यके असंख्यातवें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकलेन्द्रिय जीवोंके पल्यके संख्यातवें भाग हीन अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण होता है। आगे लिखते हैं–

"जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।

इदि संपाते सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिदी ॥ १४५ ॥"

अर्थात्–यदि सत्तर कोटीकोटी सागरकी स्थितिवाला मिथ्यात्वकर्म एकेन्द्रिय जीवके एक सागर द्वीन्द्रियके पचीस सागर, त्रीन्द्रियके पचास सागर, चतुरिन्द्रियके सौ सागर और असंज्ञिपंचेन्द्रियके एक हजार सागर प्रमाण बंधता है तो तीस कोटीकोटी सागर आदिकी स्थितिवाले अन्य कर्म उनके कितनी स्थितिको लेकर बंधेंगे ऐसा त्रैराशिक करने पर एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके शेष प्रकृतियोंकी दोनों स्थितियां मालूम हो जाती हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियके उक्त अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें पल्यका संख्यातवां भाग कम करदेनेपर अपना अपना जघन्य स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञि पचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जानना चाहिये।

अब बाकी बचे आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

अर्थ—देवायु और नरकायुकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है।

भावार्थ—ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आगे बतलाने का निर्देश कर आये थे, उनमेंसे चारों आयुकी जघन्यस्थिति यहा बतलाई है। आगममें मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है, और यहा क्षुद्रभव प्रमाण लिखी है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्तके बहुतसे भेद हैं। अतः यह बतलानेके लिये कि अन्तर्मुहूर्त क्षुद्रभवप्रमाण लेना चाहिये, यहां अन्तर्मुहूर्त न लिखकर उसके ठीक ठीक परिमाणका सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभवका निरूपण आगे ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

जघन्य स्थितिका कथन करके, अब जघन्य अबाधाको बतलाते हैं—

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धमें तथा आयुकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें भी जघन्य अबाधाका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। किन्हीं आचार्यों के मतसे तीर्थङ्करनामकी जघन्यस्थिति देवायुके समान अर्थात् दस हजार वर्ष है और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथाके पूर्वार्द्धमें सभी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य

अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है। जघन्य स्थितिबंधमें जो अबाधा काल होता है उसे जघन्य अबाधा कहते हैं और उत्कृष्ट स्थितिबंधमें जो अबाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं। किन्तु यह परिमाण उन सातकर्मों तक ही सीमित है, जिनकी अबाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार होती है। आयुकर्मकी तो उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योंकि उसकी अबाधाकाल स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नहीं होता, जैसा कि पहले लिख आये हैं। अतः आयुकर्मकी अबाधामें चार विकल्प होते हैं—१—उत्कृष्ट स्थितिबंधमें उत्कृष्ट अबाधा, २—उत्कृष्ट स्थितिबंधमें जघन्य अबाधा, ३—जघन्य स्थितिबंधमें उत्कृष्ट अबाधा और ४—जघन्य स्थितिबंधमें जघन्य अबाधा। इन विकल्पोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी एक पूर्वकोटिकी आयुमें तीसरा भाग शेष रहनेपर तेतीस सागरकी आयु बांधता है तब उत्कृष्टस्थिति बंधमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर तेतीस सागरकी स्थिति बांधता है तो उत्कृष्टस्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। तथा, जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटीका तीसरा भाग शेष रहते हुए परभवकी जघन्यस्थिति बांधता है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहनेपर परभवकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है तो जघन्य स्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। अतः आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।

इस प्रकार अबाधाका कथन करके ग्रन्थकारने गाथाके उत्तरार्द्धमें तीर्थङ्कर और आहारकद्विककी जघन्यस्थितिके सम्बन्धमें किन्हीं आचार्योंके मतका उल्लेख किया है, जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानते हैं। इन

तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ग्रन्थकार पहले अन्त कोटीकोटीसागर बतला आये हैं। उन्हींके सम्बन्धमें यह मतान्तर जानना चाहिये।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभवके बराबर बतलाइ है। अतः दो गाथाओंसे क्षुद्रभवका निरूपण करते हैं—

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

अर्थ—एक श्वासोच्छ्वासमें कुछ अधिक सतरह क्षुद्र या क्षुल्लक भव होते हैं। एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोछ्वास होते हैं। तथा, एक मुहूर्तमें ६५५३६ क्षुद्रभव होते हैं और एक क्षुद्रभवमें २५६ आवली होती हैं।

---

१ यह मत पञ्चसङ्ग्रहकारका जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारककी जघन्यस्थिति अन्त र्मुहूर्त बतलाई है। यथा—

"सुरनारयाउयाण दसवाससहस्स लघु सतित्थाण ॥ २५३ ॥"

अर्थात्—तीर्थङ्कर नाम सहित देवायु नरकायुकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। तथा—

'साए बारस हारगविग्घावरणाण किंचूण ॥ २५४ ॥'

'सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी कुछ कम मुहूर्तप्रमाण जघन्यस्थिति है।'

२ जीवकाण्डमें एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ क्षुद्र भव कहे हैं। यथा—

"तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२३ ॥"

अर्थात्—लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तमुहूर्तमें ६६३३६ बार मरण

भावार्थ—गाथा ३८में मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई थी, अत इन गाथाओंके द्वारा क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाया है। निगोदिया जीवके भवको क्षुद्रभव कहते हैं, क्योंकि उसकी स्थिति सब भवोंकी अपेक्षासे अति अल्प होती है और वह भव मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायमें ही होता है। अत मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई है। क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निम्न प्रकार है—

जैन कालगणनाके अनुसार, असख्यात समयकी एक आवली होती

करता है, अत एक अन्तमुहूर्तमें उतनेही अर्थात् ६६३३६ ही क्षुद्रभव होते हैं। तथा—

"सीदी सट्ठी ताल वियले चउवीस होंति पचक्खे।
छावट्ठिं च सहस्सा सय च बत्तीसमेयक्खे ॥१२४॥"

'उन ६६३३६ भवोंमें से, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके साठ, चतुरिन्द्रियके ४०, पचेन्द्रियके २४ और एकेन्द्रियके ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं।'

इस प्रकार दिगम्बरोंके अनुसार एक श्वासमें १८ क्षुद्रभव होते हैं।

१ ज्योतिष्करण्डकमें लिखा है—

'कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो त तु जाण समय तु।
समया य असखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥ ८ ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भण्णए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु ॥ ९ ॥
अट्ठत्तीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।"

अर्थात्—कालके अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अशको समय कहते हैं। असख्यात समयका एक उच्छ्वास निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं। सात प्राणका एक स्तोक, सात स्तोकका एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली और 'बे नालिया मुहुत्तो'-दो नालीका एक मुहूर्त होता है।

है। सख्यात आवलीका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। अर्थात् एक रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुषके एक बार श्वास लेने और त्यागनेके कालको एक उच्छ्वास-निश्वासकाल या श्वासोच्छ्वासकाल कहते हैं। सात श्वासोच्छ्वासकालका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अड़तीस लवकी एक नाली या घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। अत एक मुहूर्तम श्वासोच्छ्वासोकी सख्या मालूम करनेके लिये १ मु० × २ घ० × ३८½ लव × ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करनेपर ३७७३ सख्या आती है। तथा, एक मुहूर्तमें एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अत ६५५३६म ३७७३ से भाग देनेपर १७ $\frac{१३५५}{३७७३}$ लब्ध आता है। अत एक श्वासोच्छ्वासकालमें सतरहसे कुछ अधिक क्षुद्रभवोंका प्रमाण जानना चाहिये। अर्थात् एक क्षुद्रभवका काल एक उच्छ्वास निश्वासकालके कुछ अधिक सतरहवें भाग प्रमाण होता है। उतने ही समयमें दो सौ छप्पन आवली होती हैं।

यदि आधुनिक कालगणनाके अनुसार क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निकाला जावे तो वह इस प्रकार होगा। एक मुहूर्तमें अड़तालीस मिनिट होते हैं, अर्थात् एक मुहूर्त ४८ मिनिटके बराबर होता है। और एक मुहूर्तम ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अत ३७७३में ४८से भाग देनेपर एक मिनिटमें साढे अठत्तरके लगभग श्वासोच्छ्वास आते हैं। अर्थात् एक श्वासोच्छ्वासका काल एक सैकिण्डसे भी कम होता है, उतने कालमें निगोदिया जीव सतरहसे भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे क्षुद्रभवकी क्षुद्रताका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है।

वैक्रियषट्कके सिवाय शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका और सभी प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब उनके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो[1] ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ॥ ८२ ॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करता है। प्रमत्तसंयत मुनि आहारकद्विक और देवायुका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करता है। और मिथ्यादृष्टि जीव शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है।

भावार्थ—उत्कृष्टस्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए, इस गाथामें तीर्थङ्करप्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका स्वामी (कर्ता) अविरतसम्यग्दृष्टिको बतलाया है। किन्तु उसके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि जो अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वग्रहण करनेसे पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें नरकायुका बन्ध कर लेता है, और बादको क्षायोपशमिक सम्यक्त्वग्रहण करके तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करता है, वह मनुष्य जब नरकमें जानेका समय आता है तो सम्यक्त्वको वमन करके मिथ्यात्वको अङ्गीकार करता है। जिस समयमें वह सम्यक्त्वको त्यागकर मिथ्यात्वको अङ्गीकार

---

१ प्रकरणरत्नाकरके चौथे भागमें 'य पमत्तो'के स्थानमें 'अपमत्तो' पाठ मुद्रित है और टबे' में उसका अर्थ प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्त किया है। टबेमें लिखा है—'आहारकशरीर तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग, ए बे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रमत्तगुणठाणाने सन्मुख थयलो एवो अप्रमत्त यति ते अप्रमत्त गुणठाणाने चरमबन्धे बांधे। एना बधक माहे एहिज अतिसंक्लिष्ट छे। तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो। पण एटलु विशेष जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबन्ध आरंभीने अप्रमत्तें थइलो साधु बांधे।'

कर्मप्रकृति के स्थितिबन्धाधिकारमें गा० १०२ का व्याख्यान करते हुए उपाध्याय यशोविजयजीने भी आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्त

करता है, उससे पहले समयमें उस अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके तीर्थंङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेशसे ही बंधती है, और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमेंसे अविरतसम्यग्दृष्टिके ही उस अवस्थामें होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया है। अतः उसका ही ग्रहण किया है। तथा, तिर्यञ्च गतिमें तो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध ही नहीं होता। देवगति और नरकगतिमें उसका बन्ध तो होता है, किन्तु वहाँ तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्धक चौथे गुणस्थानसे च्युत होकर मिथ्यात्वके अभिमुख नहीं होता। और ऐसा हुए बिना तीर्थङ्कर प्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका कारण उत्कृष्ट संक्लेश नहीं हो सकता। अतः मनुष्यका ग्रहण किया है। तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले जो मनुष्य नरकायुका बन्ध नहीं करता, वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका

भावके अभिमुख अप्रमत्त मुनिके और देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयतिके बतलाया है। पञ्चसंग्रह (प्र० भा०) की टीकाओंमें भी (पृ० २३६) यही बतलाया है। कर्मकाण्डमें भी लिखा है–

"देवाउगं पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो दु।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥ १३६ ॥"

अर्थात्–देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयति करता है और आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्तयति करता है। इसप्रकार उक्त सभी उल्लेखोंके आधारपर आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध सातवें गुणस्थानमें उस समय होता है जब जीव छठें गुणस्थानके अभिमुख होता है। किन्तु कर्मग्रन्थके रचयिताके अनुसार सातवेंसे छठेमें आने पर होता है। उन्होंने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें यही अर्थ किया है। इसलिये हमने 'अपमत्तो' पाठ न रखकर 'य पमत्तो' रक्खा है। भावनगरसे प्रकाशित नवीन संस्करणमें भी यही पाठ

बन्ध करनेके बाद नरकमें उत्पन्न नहीं होता, अत ऐसे मनुष्यका ग्रहण किया है जो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले नरककी आयु बांध लेता है। तथा, राजा श्रेणिककी तरह कोई कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व दशामें ही मरकर नरकमें जा सकते हैं, किन्तु विशुद्ध परिणाम होनेके कारण वे जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं कर सकते, और उसका ही यहाँ प्रकरण है। अत उनका ग्रहण न करके, मिथ्यात्वके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। सारांश यह है कि चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हो सकता है। किन्तु उत्कृष्टस्थिति बन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेशकी आवश्यकता है, और तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धक मनुष्यके उसी दशामें उत्कृष्ट संक्लेश हो सकता है, जब वह मिथ्यात्वके अभिमुख हो। और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्वके अभिमुख तभी होता है जब तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले उसने नरकायुका बन्ध कर लिया हो। अत *नरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि*

१ पञ्चसङ्ग्रह प्र० भा० पृ० २३६ में मलयगिरि टीकामें लिखा है–"तथा चोक्त शतकचूर्णौ तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बंधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठोत्ति काउं। जो सम्मत्तेण खाइगेण नरगं वच्चइ सो तओ विसुद्धपरोत्ति काउं तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति।" अर्थात् शतकचूर्णि में कहा है कि जो मनुष्य असंयत वेदक सम्यग्दृष्टि पहले नरकायुका बन्ध करचुकने के कारण नरक के अभिमुख होता हुआ अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त करेगा, वह अन्तिम स्थितिबन्धमें वर्तमान रहते हुए तीर्थङ्कर नामकी उत्कृष्टस्थितिको बांधता है। तीर्थङ्करके बन्धकोंमें उसीके अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं। जो क्षायिकसम्यक्त्वसे नरक जाता है, वह उससे विशुद्धतर है।, अत उसका ग्रहण नहीं किया है।

मनुष्य जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है, उसी समय उसके तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

तथा, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट स्थितिबंध अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत हुआ प्रमत्त-संयत मुनि करता है। क्योंकि इन प्रकृतियोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबंधके लिये उत्कृष्ट संक्लेशका होना आवश्यक है। और उनके बंधक प्रमत्त मुनिके उसी समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है, जब वह अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थानमें आता है। अत उसके ही उन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना चाहिये।[1]

तथा, देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबंध अप्रमत्तसंयत गुणस्थानके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होता है। क्योंकि यह स्थिति शुभ है, अत इसका बंध विशुद्ध दशाम ही होता है। और वह विशुद्ध दशा अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होती है।

शङ्का—यदि देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध भावोंसे होता है तो अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाना चाहिये,

---

१ आहारकद्विकके बंधकके बारेमें कर्मग्रन्थकी टीकामें लिखा है—'तथा 'आहारकद्विकं' आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण 'पमत्तु'त्ति प्रमत्त संयतो अप्रमत्तभावाभिवर्तमान इति विशेषो दृश्य, उत्कृष्टस्थितिक बध्नाति। अमुमा हीयं स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्वन्ध कश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावाभिवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थं विशिष्यते।' इसका अर्थ ऊपर दिया ही गया है।

२ 'सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तु ॥ २७१ ॥' पञ्चस०

अर्थात्—'देवायु, नरायु और तिर्यगायुको छोड़कर शेष सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति अशुभ होती है, और उसका बंध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है। तथा विशुद्धपरिणामोंसे जघन्य स्थितिबंध होता है।'

क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनिसे, भले ही वह अप्रमत्त भावके अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनिके भाव विशुद्ध होते हैं।

समाधान—अप्रमत्त गुणस्थानमें देवायुके बन्धका आरम्भ नहीं होता, किन्तु प्रमत्त गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ देवायुका बन्ध कभी कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें पूर्ण होता है। द्वितीय कर्मग्रन्थमें छठे और सातवें गुणस्थानमें बन्धप्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए जो कुछ लिखा है उससे यही आशय निकलता है कि जो प्रमत्त मुनि देवायुके बन्धका प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो उसी गुणस्थानमें देवायुके बन्धका प्रारम्भ करके उसीमें उसकी समाप्ति कर लेते हैं और दूसरे छठे गुणस्थानमें उसका बन्ध प्रारम्भ करके सातवेंमें उसकी पूर्ति करते हैं। अतः अप्रमत्त अवस्थामें देवायुके बन्धकी समाप्ति तो हो सकती है किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसीलिये देवायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका

---

१ 'तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्साय।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥
गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥'

अर्थात्—प्रमत्त गुणस्थानमें त्रेसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और छह प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। यदि देवायुके बन्धकी पूर्ति भी यहीं हुई तो सातकी व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें, यदि देवायुका बन्ध वहाँ चला आया तो उनसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अन्यथा अट्ठावनका बन्ध होता है क्योंकि वहाँ आहारकद्विकका भी बन्ध होता है।'

सर्वार्थसिद्धिमें भी देवायुके बन्धका आरम्भ मुख्यतया छठे गुणस्थानमें ही बतलाया है। यथा—'देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुः प्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्न।' पृ० २३८।

स्वामी अप्रमत्तको न बतलाकर अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्त संयमीको बतलाया है ।

आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और देवायुके सिवाय शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है, क्योंकि पहले लिख आये हैं कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्राय संक्लेशसे ही होता है, और सब बन्धकोंमें मिथ्यादृष्टिके ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन ११६ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिसे होता है, अत इन दोनोंका बन्धक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है ।

शंका—मनुष्यायुका बन्ध चौथे गुणस्थानतक होता है और तिर्यञ्चायुका बन्ध दूसरे गुणस्थानतक होता है । अत मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये और तिर्यञ्चायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादन सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये । क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, और तिर्यगायु तथा मनुष्यायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी ही आवश्यकता है ।

समाधान—यह सत्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके परिणाम मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हासकता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्योपम है और यह उत्कृष्टस्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके ही होती है । परन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायुका बन्ध करके भी कर्मभूमिमें ही जन्म लेते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्च, यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हो तो देवायुका ही बन्ध करते हैं । अत चतुर्थ गुणस्थानकी विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायुके बन्धका कारण नहीं हो सकती । तथा, दूसरा गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्वका वमन करके

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्वगुणसे विमुख सासादनसम्यग्दृष्टिके अधिक विशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सासादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता।

संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सामान्यसे बतलाया है। अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव किन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं--

विगलसुहुमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

अर्थ--विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक और नारकद्विकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होता है। तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, और आतपनामका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देव करते हैं।

भावार्थ--इस गाथामें पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्योंके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके बतलाया है। पन्द्रह प्रकृतियोंमें से तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध देवगति और नरकगतिमें तो जन्मसे ही नहीं होता। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, जो भोगभूमिजोंमें ही होती है। किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं। अतः इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्चके ही बतलाया है। इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देवोंके बतलाया है, क्योंकि ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव तो एकेन्द्रिय जातिमें जन्म ही नहीं लेते, अतः एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियोंका बन्ध उनके नहीं होता। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्योंके यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उनके भी एकेन्द्रियजाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता। किन्तु ईशान स्वर्ग तकके देवोंमें यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, क्योंकि देव मरकर नरकमें जन्म नहीं लेता है। अतः पन्द्रहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें तथा तीनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देवगतिमें ही जानना चाहिये॥

अब शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं–

---

१ कर्मकाण्डमें भी ११६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए लिखा है–

'णरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥
देवा पुण एइंदियं आदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥"

अर्थात्– देवायुके बिना शेष तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, विकलत्रिक, और सूक्ष्मत्रिकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। औदारिकद्विक, तिर्यञ्चद्विक उद्योत, और असंप्राप्तासृपाटिका संहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। एकेन्द्रिय, आतप और स्थावरका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। और शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे सम्यक्त्वगुणसे विमुख सासादनसम्यग्दृष्टिके अधिक विशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता।

सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सामान्यतः बतलाया है। अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव किन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं—

विगलसुहुमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

अर्थ—विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक और नारकद्विकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होता है। तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, और आतपनामका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्योंके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके बतलाया है। पन्द्रह प्रकृतियोंमें से तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुके सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध देवगति और नरकगतिमें तो जन्मसे ही नहीं होता। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, जो भोगभूमियोंमें ही होती है। किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं। अतः इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्चके ही बतलाया है। इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

हैं और संज्ञी जीव भी करते हैं। उनमेंसे देवायु और नरकायुका जघन्य स्थितिबन्ध पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य करते हैं, तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय वगैरह करते हैं। शेष ८५ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है, क्योंकि प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध को बतलाते हुए यह लिख आये हैं कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके ही होता है, क्योंकि उनके बन्धकोंमें वही विशेष विशुद्धिवाला होता है। अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होनेके कारण उक्त प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधते हैं। तथा, यद्यपि विकलेन्द्रियादिमें एकेन्द्रियोंसे अधिक विशुद्धि होती है, किन्तु वे स्वभावसे ही प्रस्तुत प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधते हैं, अतः शेष प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवको ही बतलाया है।

प्रकृतियोंके स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं—

उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध। दूसरी तरहसे भी बन्धके चार भेद हैं—सादि बन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्ध। आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उन कर्मोंके शेष तीन बन्ध और आयुकर्मके चारों बन्ध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकारके होते हैं।

---

१ कर्मकाण्ड गा० १५१ में, कर्मप्रकृति पृ० २०२ बन्धनकरणमें और पञ्चसङ्ग्रह गा० २७० में जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाया है।

साय-जसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नीवि आउ बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥ ४९ ॥

अर्थ—सात वेदनीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, इन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है। वैक्रियषट्क अर्थात् वैक्रियद्विक, नरकद्विक और देवद्विकका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च करता है। चारों आयुओंका जघन्य स्थितिबन्ध संज्ञी और असंज्ञी, दोनों ही करते हैं। तथा, शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है।

भावार्थ—जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए इस गाथामें सात वेदनीय आदि सत्रह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी सूक्ष्मसाम्परायक्षपकको बतलाया है, क्योंकि सात वेदनीयके सिवा शेष सोलह प्रकृतियाँ इसी गुणस्थान तक बधती हैं, अतः उनके बन्धकोंमें यही गुणस्थान विशेष विशुद्ध है। तथा, यद्यपि सात वेदनीयका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है, तथापि स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबन्धका कारण कषाय है और कषायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है। अतः सात वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध भी दसवें गुणस्थानमें ही बतलाया है।

वैक्रियषट्कका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च करते हैं, क्योंकि देव, नारक, और एकेन्द्रिय तो नरकगति और देवगतिमें जन्म ही नहीं लेसकते, और संज्ञी तिर्यञ्च तथा मनुष्य स्वभावसे ही उक्त छह प्रकृतियोंका मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। अतः असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्चके ही उनका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी जीव भी करते

अत ग्यारहवें गुणस्थानमें अजघन्य बन्ध न करके, वहासे च्युत होकर जब जीव पुन सात कर्मोंका अजघन्य बन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहलाता है। नौवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें आनेसे पहले उक्त सात कर्मोंका जो अजघन्यबन्ध होता है, वह अनादि कहलाता है, क्योंकि अनादिकालसे निरन्तर उसका बन्ध होता रहता है। अभव्यके जो अजघन्य बन्ध होता है, वह ध्रुव कहलाता है, क्योंकि उसका अन्त नहीं होता है। और भव्यके जो अजघन्यबन्ध होता है, वह अध्रुव कहा जाता है, क्योंकि उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार सात कर्मोंके अजघन्यबन्धमें चारों ही भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष तीन बन्धोंमें सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि हम लिख आये हैं कि मोहनीयकर्मका नौवें गुणस्थानके अन्तमें और शेष छह कर्मोंका दसवें गुणस्थानके अन्तमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है, इससे पहले नहीं होता है, अत वह बन्ध सादि है। तथा, उसके बाद बारहवें आदि गुणस्थानोंमें उसका सर्वथा अभाव होजाता है, अत वह अध्रुव है। इस प्रकार जघन्यबन्धमें केवल दो ही विकल्प होते हैं। तथा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संक्लिष्ट परिणामी पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। यह बन्ध कभी कभी ही होता है, सर्वदा नहीं होता, अत सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद नियमसे इसका स्थान अनुत्कृष्ट बन्ध ले लेता है, अत अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्टबन्धमें भी दो ही विकल्प होते हैं। उत्कृष्टबन्धके पश्चात् अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, अत वह सादि है और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तके बाद और अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बाद उत्कृष्ट बन्धके होनेपर अनुत्कृष्टबन्ध रुक जाता है अत वह अध्रुव कहा जाता है। साराश यह है कि उत्कृष्ट-बन्ध लगातार अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बन्ध लगातार अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल है। उसके बाद [illegible] दूसरेका स्थान ले लेते हैं,

अजघन्य बधके चारो ही विकल्प होते हैं, जो मूलकर्मोंके अजघन्यबध ही की तरह जानने चाहियें। अर्थात् उपशमश्रेणिमें इन अठारह प्रकृतियोंके बधका विच्छेद करके, वहासे च्युत होकर जब पुन उनका अजघन्य बध करता है तो वह बध सादि होता है। उपशमश्रेणि चढने से पहले वह बध अनादि होता है। तथा, अभव्यका वही बध ध्रुव होता है और भव्यका अध्रुव होता है। इन्ही अठारह प्रकृतियोंके शेष तीन बध सादि और अध्रुव, दो ही तरह के होते हैं, क्योंकि नौवें गुणस्थानमें अपनी अपनी बधव्युच्छित्तिके समय सज्वलनचतुष्कका जघन्य बध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानके अन्तम शेष चौदह प्रकृतियोंका जघन्य बध होता है। यह बध इन गुणस्थानोंमें आनेसे पहले नहीं होता, अत सादि है और आगेके गुणस्थानोंमें जानेपर बिल्कुल रुक जाता है, अत अध्रुव है। इसी प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टबन्धम भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनो बध भी परिवर्तित होते रहते हैं, कभी जीव उत्कृष्टबध करता है और कभी अनुत्कृष्टबध करता है।

शेष एक सौ दो प्रकृतियोंके चारों ही प्रकारके बधोंके सादि और अध्रुव भङ्ग ही होते हैं, क्योंकि पाँच निद्रा, मिथ्यात्व, प्रारम्भकी बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण, इन उनतीस प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबध विशुद्धियुक्त बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव सक्लिष्ट

---

१ 'अट्ठारसण्ह खवगो, बादर एगिंदि सेस धुवियाण।
पज्जो कुणइ जहन्न साई अधुवो अओ एसो ॥२६८॥' पचस०।

अर्थ-अट्ठारह प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्षपक श्रेणीमें होता है, और शेष ध्रुव प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अत यह बन्ध भी सादि और अध्रुव होता है।

परिणामी होनेपर उन प्रकृतियोंका अजघन्य बंध करता है। उसके बाद उसी भवमें अथवा दूसरे भवमें विशुद्ध परिणाम होनेपर वही जीव पुनः उनका जघन्य बंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य बंध बदलते रहते हैं, अतः दोनों ही सादि और अध्रुव होते हैं। तथा, इन्हीं उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बंध संक्लिष्टपरिणामी पञ्चेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव उनका अनुत्कृष्ट बंध करता है, उसके बाद पुनः उत्कृष्ट बंध करता है। इस प्रकार बदलते रहनेके कारण ये दोनों बंध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः अध्रुवबन्धिनी होनेके कारण ही उनके जघन्य आदि स्थितिबंध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंके बंधोंमें सादि आदि भङ्गोंको जानना चाहिये।[1]

स्थितिबंधमें सादि आदि भङ्गोंका निरूपण करके अब गुणस्थानोंमें स्थितिबंधका विचार करते हैं—

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि॥ ४८॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटीसागरसे न तो अधिक ही स्थिति बंधती है और न कम ही बंधती है। तथा भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबंध नहीं होता है।

भावार्थ—पहले सामान्यसे और पीछे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबंधका प्रमाण बतलाया था। इस गाथामें गुणस्थानोंकी

---

[1] कर्मप्रकृति, बन्धनकरणमें पृ० २०० स, पञ्चसङ्ग्रहमें गा० २६६ स और कर्मकाण्डकी गाथा १५२-१५३में स्थितिबंधमें उक्त भङ्गोंका निरूपण किया है।

अपेक्षासे उसका प्रमाण बतलाया है। अर्थात् यहाँ यह बतलाया है कि किस गुणस्थानमें कितना स्थितिबन्ध होता है ? सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता है। इससे यह आशय निकलता है कि अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। सारांश यह है कि सास्वादन आदि गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, अत उनके अन्त कोटीकोटीसागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक बन्ध नहीं होता।

शङ्का—कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन करनेवालोंके भी मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटीकोटी सागर प्रमाण बतलाया है। ऐसी दशामें यह कथन ठीक नहीं है कि सास्वादनसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तकके जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, इसलिये उनके अन्त कोटी कोटी सागरसे अधिक बन्ध नहीं होता है।

समाधान—यह ठीक है कि ग्रन्थिका भेदन करनेवालेके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, किन्तु सम्यक्त्वका वमन करके जो पुन मिथ्यात्व-गुणस्थानमें आ जाते हैं, उनके ही वह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। यहाँ तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले सास्वादन आदिके ही उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निषेध किया है, अत कोई दोष नहीं है। **आवश्यक** आदि ग्रन्थोंमें

---

१ 'यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्योत्कृष्ट स्थितीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बधेण न वोलइ कयाइ' इति वचनात्। एष सिद्धान्तिकाभिप्राय। कार्मग्रन्थिकास्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति प्रतिपन्ना।' आव० नि० टी० पृ० १११ उ०।

अर्थात्-सम्यक्त्वको प्राप्त करके, उसके छूट जानेपर भी एक बार ग्रन्थिका भेदन करनेके बाद कर्मप्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता,

जो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले मिथ्यादृष्टिके भी उत्कृष्टबंधका प्रतिषेध किया है, यह सैद्धान्तिकोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो यद्यपि मिथ्यादृष्टिके भी मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, किन्तु उसमें उतनी तीव्र अनुभाग शक्ति नहीं होती। अतः सास्वादनसे अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागरसे अधिक स्थितिबंध नहीं होता। तथा, उससे कम भी नहीं होता। सारांश यह है कि दूसरेसे आठवें गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण ही स्थिति बंधती है, न इससे अधिक बंधती है और न कम।

शङ्का—जब एकेन्द्रिय आदि जीव सास्वादन गुणस्थानमें होते हैं, उस समय उनके है सागर आदि प्रमाण ही स्थिति बंधती है। अतः सास्वादन आदि गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबंध नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं जचता।

समाधान—उक्त आशङ्का उपयुक्त है। किन्तु इस प्रकारकी घटनाएं क्वचित् ही होती हैं, अतः उसकी विवक्षा नहीं की है।[1] अस्तु,

अपूर्वकरण गुणस्थानतक अन्तःकोटीकोटी सागरसे हीन स्थितिबंधका निषेध करनेसे यह स्पष्ट ही है कि उससे आगे अनिवृत्तिकरण वगैरह गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे भी कम स्थितिबंध होता है।

सास्वादन वगैरहमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबंधका निषेध करनेसे स्वभावतः यह जाननेकी रुचि होती है कि क्या कोई मिथ्यादृष्टि जीव

क्योंकि 'बंधेण न बोलइ कयाइ' ऐसा शास्त्रमें लिखा है। किन्तु यह सिद्धान्तशास्त्रियोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेपर भी उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

१ "सत्यमेतत्, केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि।" पञ्चमकर्म० स्वोपज्ञ टी०।'

भी ऐसा होता है, जिसके अन्त कोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। इसीसे ग्रन्थकारने बतलाया है कि भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्त कोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। यहाँ भव्यसंज्ञीके साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्यसंज्ञीके अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानोंमें हीन बन्ध भी होता है। तथा, संज्ञी विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्य असंज्ञीके हीन स्थितिबन्ध होता है। अभव्य संज्ञीके तो अन्त कोटीकोटीसागरसे हीन स्थितिबन्ध होता ही नहीं है, क्योंकि ग्रन्थिका भेदन करनेवालेके ही हीन स्थितिबन्ध होता है। किन्तु अभव्यसंज्ञी अधिकसे अधिक ग्रन्थिदेश तक तो पहुँच जाता है, किन्तु उसका भेदन करनेमें असमर्थ होनेके कारण पुनः नीचे आ जाता है।

गुणस्थानोंमें स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब तीन गाथाओंके द्वारा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

जइलहुबन्धो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो ।
एसिं अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥
तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो ।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

अर्थ—१ सबसे जघन्य स्थितिबन्ध यति अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थानवर्ती साधुके होता है। २-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है। ३-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ४-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ५-उससे सूक्ष्म

अपर्याप्तक एकेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ६-उससे सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ७-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ८-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ९-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १०-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। ११-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १२-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १३-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १४-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १५-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १६-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १७-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अधिक है। १८-उससे पर्याप्तक चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १९-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २०-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २१-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २२-उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। २३-उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २४ उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २५-उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २६-उससे सयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। २७-उससे देशसयतका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। २८-उससे देशसयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। २९-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। ३०-उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य

१ स्वोपज्ञटीकामें अविरत सम्यग्दृष्टि और सज्ञिपचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिमें

स्थितिबंध संख्यात गुणा है। ३१-उससे अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है। ३२-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है। ३३-उससे अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है। ३४-उससे पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुणा है। ३५-उससे अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुणा है। ३६-उससे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

भावार्थ—इन तीन गाथाओंके द्वारा यह बतलाया गया है कि किस जीवके अधिक स्थितिबंध होता है और किस जीवके कम स्थितिबंध होता है। इसीको अल्पबहुत्व कहते हैं। सबसे जघन्य स्थितिबंध दसवें गुणस्थानमें होता है, उससे हीन स्थितिबंध किसी भी जीवके नहीं होता। यद्यपि आगेके गुणस्थानोंमें एक समयका ही स्थिति बंध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं अतः वहाँ स्थितिबंधकी विवक्षा ही नहीं है। इसीलिये दसवें गुणस्थानसे ही स्थितिबंधके अल्पबहुत्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। और पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके सबसे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, अतः वह वर्णन वहां आकर समाप्त होता है। स्थिति-

---

स्थितिका अल्पबहुत्व बतलाते हुए अपर्याप्तकके जघन्य स्थितिबन्धसे पर्याप्तका जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा बतलाया है। अर्थात् अपर्याप्तका जघन्य स्थान पहले रखा है और पर्याप्तका जघन्य स्थान बादको रक्खा है। किन्तु गुजराती टबेमें तथा कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) की गा० ८१ की प्राचीन चूर्णि और दोनों टीकाओंमें पर्याप्तके जघन्य स्थितिबंधसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुणा बतलाया है। तथा कर्मग्रन्थमें भी द्वीन्द्रियादिकमें पर्याप्तकके जघन्य स्थितिबंधसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध ही अधिक बतलाया है। इसलिये उक्त दोनों स्थानोंमें भी हमने वही क्रम रखा है। स्वोपज्ञटीका का वह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है।

होता है। किन्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय होनेके कारण संयमी मनुष्यकी चैतन्यशक्ति खूब विकसित होजाती है, अतः यद्यपि संयमी होनेके कारण संज्ञिपञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे उसका स्थितिबन्ध बहुत कम होता है, तथापि असंज्ञि पञ्चेन्द्रियकी अपेक्षासे वह अधिक ही है। यह सब जीवके भावों और अवस्थाओंका ही परिणाम है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर संज्ञिपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितने स्थितिबन्ध बतलाये हैं उन सबका प्रमाण अन्तःकोटीकोटी सागर ही है। अर्थात् उन स्थितिबन्धोंमें अन्तःकोटाकोटी सागरकी ही स्थिति बंधती है। जैसा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें लिखा है—

"ओघुक्कोसो सण्णिस्स होइ पज्जत्तगस्सेव ॥८२॥" "अंभिंतरतो उ कोडाकोडीए'त्ति एवं संजयस्स उक्कोसातो आढत्त कोडाकोडीए अब्भिंतरतो भवति।"

अर्थात्—संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितना भी स्थितिबन्ध है वह कोटाकोटी सागरके अन्दर ही जानना चाहिये। और संज्ञीपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण वही है जो सामान्यसे उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण बतलाया है।

स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब उस स्थितिको शुभ और अशुभ बतलाते हुए उनका कारण बतलाते हैं—

° सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साइसंकिलेसेण।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥ ५२ ॥

---

१ तुलना कीजिये—

'सव्वाण ठिइ असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए, सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥२७१॥' पञ्चसं०

अर्थ—मनुष्यायु, देवायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ कही जाती है, क्योंकि उसका बंध अति सक्लेश परिणामोसे होता है। और जघन्य स्थितिका बंध विशुद्ध भावोंसे होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बतलाया है कि देवायु, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय शेष सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ और जघन्य स्थिति शुभ होती है। अर्थात् पुण्यप्रकृति हो अथवा पापप्रकृति हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति अच्छी नहीं समझी जाती है। यह बात बतलानेकी आवश्यकता इसलिये हुई कि साधारण जन शुभ प्रकृतिमें अधिक स्थितिके पड़नेको अच्छा समझते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिके बंधनेसे शुभ प्रकृति बहुत दिनों तक शुभ फल देती रहती है। किन्तु शास्त्रकारोंका कहना है, कि अधिक स्थितिबंधका होना अच्छा नहीं हैं, क्योंकि स्थितिबन्धका मूल कारण कषाय है, जिस श्रेणीकी कषाय होती है स्थितिबंध भी उसी श्रेणीका होता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट कषायसे होता है, इसलिये उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

शंका—शास्त्रोंमें लिखा है कि स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायसे होते हैं। अतः स्थितिबंधकी तरह अनुभागबंध भी कषायसे ही होता है। ऐसी परिस्थितिमें उत्कृष्ट अनुभागको भी उसी तरह अशुभ मानना चाहिये, जैसे कि उत्कृष्ट स्थितिको अशुभ माना जाता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषाय है। किन्तु शास्त्रोंमें शुभ प्रकृतियोंके अनुभाग बंधको शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबंधको अशुभ बतलाया है।

उत्तर—यद्यपि अनुभाग बंधका कारण भी कषाय ही है, और स्थितिबंधका कारण भी कषाय ही है, तथापि दोनोंमें बड़ा अन्तर है। कषायकी

---

१ इसी बातको कर्मकाण्डमें इस प्रकार कहा है–
'सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाण तु ॥ १३४ ॥'

तीव्रता होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और शुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। तथा, कषायकी मन्दता होनेपर शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और अशुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृतिके अनुभागबन्धकी हीनाधिकता कषायकी हीनाधिकता पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु शुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित है, और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी मन्दता और तीव्रता पर अवलम्बित है। सारांश यह है कि अनुभाग बन्धकी दृष्टिसे कषायकी तीव्रता और मन्दताका प्रभाव शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर बिल्कुल विपरीत पड़ता है। किन्तु स्थितिबन्धमें यह बात नहीं है, क्योंकि कषायकी तीव्रताके समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सबमें ही स्थितिबन्ध अधिक होता है और इसी तरह कषायकी मन्दताके समय जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं उन सबमें ही स्थितिबन्ध कम होता है। अतः स्थितिबन्धकी अपेक्षासे कषायकी तीव्रता और मन्दता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एकसा होता है। जैसे अनुभागमें शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषायका जुदा जुदा प्रभाव पड़ता है, वैसे स्थितिबन्धमें नहीं पड़ता है। दूसरी रीतिसे इसी बातको यों कहना चाहिये कि जब जब शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, तब तब उनमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है, और जब जब उनमें जघन्य अनुभागबन्ध होता है तब तब उनमें उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धका कारण कषायकी मन्दता है जो कि जघन्य स्थितिबन्धका कारण है। तथा उनके जघन्य अनुभागका कारण कषायकी तीव्रता है जो कि उत्कृष्ट स्थितिबन्धका कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियोंकी बात। अशुभ प्रकृतियोंमें तो अनु-भाग अधिक होनेपर स्थिति भी अधिक होती है, और अनुभाग कम होने पर स्थितिबन्ध भी कम होता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषायकी तीव्रता

ही है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ही अशुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है, और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध शुभ है क्योंकि उसका कारण कषायोंकी मन्दता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी तरह उत्कृष्ट अनुभागबन्धको सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उत्कृष्ट सक्लेशसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और विशुद्धिसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है, किन्तु तीन प्रकृतियाँ—देवायु, मनुष्यायु और नरकायु, इस नियमके अपवाद हैं। इन तीन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है क्योंकि उसका बन्ध विशुद्धिसे होता है, और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योंकि उसका बन्ध सक्लेशसे होता है। सारांश यह है कि इन तीनों प्रकृतियोंके सिवाय शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बंधती है और जघन्य स्थिति मन्द कषायसे बँधती है, किन्तु इन तीनों प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मन्द कषायसे और जघन्य स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है।

ऊपर बतलाया है कि सब प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है। किन्तु केवल कषायसे ही स्थितिबन्ध नहीं होता, अपितु उसके साथ योग भी रहता है। अतः सब जीवोंमें उस योगके अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥
अमणमणसक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें सबसे अल्प योग होता है। उससे बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भके दो लब्ध्यपर्याप्तक अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों द्वि पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे असमाप्त अर्थात् अ पर्याप्त पर्सोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुण होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुण हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बंधके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योगसे होते हैं और स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बंधके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिल्कुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्ति में प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरजको आत्मा तक लाता है।

पञ्चसङ्ग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

"जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥ ३९६॥"

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामा लंबण गहण साहणं तेण लद्धनामतिगं।"

अर्थात्—पुद्गलोंका परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीररूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है, और परिणमा करके उनका आलम्बन अर्थात् साहाय्य लेता है। इसीसे योगके तीन नाम हो जाते हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग। मनके अवलम्बनसे जो योग अर्थात् व्यापार होता है उसे मनोयोग कहते हैं। वचनका अवलम्बन लेकर जो व्यापार किया जाता है, उसे वचनयोग कहते हैं। और श्वासोच्छ्वास वगैरहके अवलम्बनसे जो व्यापार होता है उसे काययोग कहते हैं। सारांश यह है कि योग नामक शक्तिकी वजहसे ही जीव मन, वचन और काय वगैरहका निर्माण करता है और वह मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्तिके आलम्बन होते हैं। इस प्रकार पुद्गलके ग्रहण करनेमें, ग्रहण किये हुए पुद्गलका शरीरादिरूप परिणमानेमें और उनका अवलम्बन लेनेमें जो साधन है उसे ही योग कहते हैं।

जीवकाण्डमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

"पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो॥ २१५॥"

अर्थात्–पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है, उसे योग कहते हैं। इस प्रकार जैन वाङ्मयमें वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अथवा क्षयसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसके द्वारा पुद्गलके ग्रहण वगैरहमें आत्माका जो व्यापार होता है, उसे योग कहते हैं।

यह योग एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवोंके यथायोग्य पाया जाता है उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं–एक जघन्य और दूसरी

---

१ कायवाङ्मनःकर्मयोगः ॥ ६ १ ॥ तत्त्वार्थसूत्र।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे असमाप्त अर्थात् अपर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बन्धके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बन्धके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिल्कुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तिके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मदलको आत्मा तक लाता है।

पञ्चसंग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया ॥ ३०६ ॥"

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामालम्बण गहण साहणं तेण लद्धनामतिगं।"

अर्थात्—पुद्गलोंका परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

द्वीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २५-उससे पर्याप्त त्रीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २६-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २७-उससे पर्याप्त असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २८-उससे पर्याप्त सञ्ज्ञी पंचेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है।

इस प्रकार चौदह जीव समासोंमें जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे योगोंके २८ स्थान होते हैं। तथा, पर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें कुछ स्थान और भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

२९-पर्याप्त सञ्ज्ञीके उत्कृष्टयोगसे अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३०-उससे ग्रैवेयकवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३१-उससे भोग भूमिज तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३२-उससे आहारक शरीरियोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३३-शेष देव, नारक तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग उत्तरोत्तर असङ्ख्यातगुणा है। यहाँ सर्वत्र गुणाकारका प्रमाण पल्यापमके असङ्ख्यातवें भाग जानना चाहिये। अर्थात् पहले पहले योग स्थानमें पल्यके असङ्ख्यातवें भागका गुणा करनेपर आगे आगेके योगस्थानका प्रमाण आता है। इस कथनसे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर जीवकी शक्तिका विकास होता जाता है त्यों त्यों योगस्थानोंमें भी वृद्धि होती जाती है, क्योंकि जीवकी शक्ति ही तो योग है। जघन्य योगसे जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है और उत्कृष्ट योगसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है।

---

१ कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) में असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्ट योग असङ्ख्यातगुणा बतलाया है। यथा—

"अमणाणुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयतइयतणुगेसु।
कमसो असंखगुणिओ सेसेसु य जोग उक्कोसो॥ १६॥"

डेढगाथामें योगस्थानोंका अल्पबहुत्व बतलाकर ग्रन्थकार स्थितिस्थानोंका कथन करते हैं। किसी प्रकृतिकी जघन्य स्थितिसे लेकर एक एक समय बढते बढते उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्तस्थितिके जो भेद होते हैं उन्हें स्थिति स्थान कहते हैं। जैसे, यदि किसी कर्मकी जघन्य स्थिति १० समय है और उत्कृष्ट स्थिति १८ समय है। तो दससे अट्ठारहतक स्थितिके नौ भेद होते हैं, इन्हें ही स्थितिस्थान कहते हैं। ये स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर सङ्ख्यातगुण

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा २१८ से ४२ गाथाओंमें योगस्थानोंका विस्तृत वर्णन किया है। उसमें योगस्थानके तीन भेद किये हैं—उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और परिणामयोगस्थान। विग्रहगतिमें जो योग स्थान होता है उसे उपपादयोगस्थान कहते हैं। उसके बाद शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेतक जो योगस्थान होता है उसे एकान्तानुवृद्धियोगस्थान कहते हैं। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद परिणामयोगस्थान होता है। ये तीनों ही योग स्थान जघन्य भी होते हैं और उत्कृष्ट भी और वे चौदह ही जीवसमासोंमें पाये जाते हैं अतः योगस्थानोंके समस्त भेद ८४ होते हैं। कर्मग्रन्थमें उक्त तीन भेद नहीं किये हैं इसलिये वहाँ २८ ही भेद बतलाये हैं। दोनों ग्रन्थोंके भेदक्रममें भी अन्तर है।

कर्मकाण्डमें स्थितिस्थान बतलानेके लिये भी वही क्रम अपनाया गया है जो एकेन्द्रियादिक जीवोंकी स्थिति बतलानेके लिये अपनाया गया है और जिसे पहले कह आये हैं।

कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहमें बन्धनकरणके प्रारम्भमें योगस्थानोंका वर्णन है।

२ 'तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थिति पर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते।'

पञ्च० कर्म० टी० पृ० ५५, प० ३।

सख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके स्थितिस्थान सबसे कम हैं। २-उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ३-उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ४-उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इन स्थितिस्थानोंका प्रमाण पल्यके असङ्ख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका अन्तराल इतना ही होता है।

५-बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थानसे अपर्याप्तक द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं। ६-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ७-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ८-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं। ९-उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १०-उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ११ उससे अपर्याप्त असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १२-उससे पर्याप्त असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १३-उससे अपर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं। १४-उससे सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों स्थितिका प्रमाण बढ़ता जाता है त्यों त्यों स्थितिस्थानोंकी सङ्ख्या भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार योगोंका अल्पबहुत्व और स्थितिस्थानोंका प्रमाण जानना चाहिये।

योगके प्रसङ्गसे स्थितिस्थानोंका निरूपण करके, अब अपर्याप्त जीवोंके प्रति समय जितने योगकी वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं—

पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिइमसखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥

गुणी असङ्ख्यातगुणी जाननी चाहिये ।

स्थितिबन्धका जघन्यसे सब कर्मोंके अध्यवसायस्थानोंको बतलाकर, अब जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पचेंद्रियाके अधिकसे अधिक जितने कालतक बन्ध नहीं होता, उस कालको तथा उन प्रकृतियोंको दो गाथाओं से कहते हैं—

तिरिनरयतिजोयाण नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिग ।
निय नपु इत्थि दुतीस पर्णिदिसु अबन्धठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवोंके तिर्यञ्चत्रिक (तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी और तिर्यगायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) तथा उद्योत, इन सात प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम कालतक नहीं हो सकता । स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय और आतप, इन नौ प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पिचासी सागरतक नहीं हो सकता ।

अप्रथम संहनन अर्थात् पहले संहननके सिवाय शेष पाँच संहनन, अप्रथम आकृति अर्थात् पहले संस्थानके सिवाय शेष पाँच संस्थान, अप्रथम खगति अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि), नीचगोत्र, नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित एक सौ बत्तीस सागरोपम कालतक नहीं हो सकता ।

भावार्थ—इन गाथाओंमें जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रिय

जानके उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया है, उनमेंसे सोलह प्रकृतियोंका बन्ध तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है और शेष पचीस प्रकृतिया द्वितीय गुणस्थान तक ही बधती हैं। साराश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध उन्हीं जीवोंके होता है, जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानोंको छोड़कर आगे बढ जाते हैं उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता जबतक वे जीव पुन उन गुणस्थानोंमें लौटकर नहीं आते। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि दूसरे गुणस्थानसे आगे पञ्चेन्द्रिय जीव ही बढते हैं, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीसे उक्त इकतालीस प्रकृतियोंके अबन्धका काल पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाया है। अत जो पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि होजाते हैं, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता, जबतक वे सम्यक्त्वसे च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें नहीं आते। किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें आनेपर भी कभी कभी उक्त प्रकृतिया नहीं बधती, जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा। इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखकर उक्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अबन्धकालको उक्त दो गाथाओंके द्वारा बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—तिर्यञ्चद्विक, नरकद्विक और उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभवसहित चारपल्य अधिक एकसौ त्रेसठ सागर बतलाया है, जो इसप्रकार है—कोई जीव तीन पल्यकी आयु बाधकर देवकुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। वहापर उसके उक्त सात प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंका बन्ध वही कर सकता है, जो तिर्यग्गति या नरकगति में जन्म ले सके। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियमसे देव ही होते हैं, अत वे तिर्यग्गति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते हैं। अस्तु, भोगभूमिमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके यह जीव एक पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्वके होनेके कारण वहा भी उसके उक्त सात

जोड़कर मनुष्य भव सहित, चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागर प्रमाण उक्त प्रकृतियोंका अबन्धकाल होता है।

इस अबन्धकालको बतलाते हुए ग्रैवेयकमें जो सम्यक्त्वसे पतन बतलाया है वह सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण बतलाया है। इसी प्रकार विजयादिकमें ६६ सागर पूर्ण करलेनेके बाद मनुष्यभवमें जो अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें गमन बतलाया है, वह भी सम्यक्त्वके काल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण ही बतलाया है, क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्कृष्टस्थिति ६६ सागर है।

स्थावर चतुष्क आदि नौ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक १८५ सागर बतलाया है, जो इस प्रकार है— कोई जीव बाईस सागरकी स्थिति लेकर छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहां इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, क्योंकि नरकसे निकल करके जीव सभी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक ही होता है, एकेन्द्रिय अथवा विकलत्रय नहीं होता। वहां मरते समय सम्यक्त्वको प्राप्तकरके मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुआ, और अणुव्रती होकर मरणकरके चार पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहांसे च्युत होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म लेकर, महाव्रत धारणकरके, नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी स्थितिवाला देव हुआ। वहां अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यादृष्टि होगया। अन्त समय सम्यग्दृष्टि होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म लेकर, महाव्रतका पालन करके, दो बार विजयादिकमें उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। पहलेकी ही तरह मनुष्यपर्यायमें अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर, पुन सम्यक्त्वको प्राप्तकरके, तीन बार अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न हुआ, और इसप्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इन सब कालोंको जोड़नेसे मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक २२+३१+६६+६६=१८५ सागर उत्कृष्ट अबन्धकाल होता है।

प्रथम संहनन आदि २५ प्रकृतियोंका अबन्धकाल मनुष्यभव सहित

बन्ध कर सकता है। तथा स्थावरकायमें जन्म लेनेवाला जीव असंख्यात पुद्गलपरावर्त कालतक स्थावरकायमें ही पड़ा रह सकता है और वहां औदारिक शरीरके सिवाय वैक्रियशरीर वगैरहका बन्ध नहीं होता।

इसीप्रकार सातवेदनीयका भी जघन्य बन्धकाल एक समय है और उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ कम एक पूर्वकोटी है। एक समयतक सातवेदनीय-का बन्ध करके जब कोई जीव दूसरे समयमें असातवेदनीयका बन्ध करता है तो जघन्य बन्धकाल एक समय ठहरता है। तथा, जब कोई कर्मभूमिया मनुष्य आठवर्षकी उम्रके बाद जिनदीक्षा धारण करके केवलज्ञान प्राप्त करता है तो उसके कुछ अधिक आठवर्ष कम एक पूर्वकोटि कालतक निरन्तर सातवेदनीयका ही बन्ध होता रहता है, क्योंकि छठे गुणस्थानके बाद उसकी विरोधी असातवेदनीय प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, तथा कर्मभूमिया मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि बतला आये हैं। अतः सातवेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठवर्षकम एक पूर्वकोटी जानना चाहिये॥

जलहिसय पणसीय परघुस्सासे पणिंदितसचउगे।

---

१ "देशोनपूर्वकोटिभावनात्वेवम्–इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान् सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्याद् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।" पञ्चसं०, पृ० ७७, मलय० टी०।

अर्थ–कुछकम पूर्वकोटिकी भावना इस प्रकार है–एक पूर्वकोटिकी आयु वाला कोई मनुष्य गर्भमें कुछ अधिक नौ मास व्यतीत करता है। उत्पन्न होनेपर भी आठवर्ष तक देशविरति अथवा सर्वविरतिको धारण नहीं कर-सकता, क्योंकि आठवर्षके नीचेके सभी व्यक्ति एकदेश या सर्वदेश विरति को धारण नहीं कर सकते, ऐसा उनका स्वभाव ही है।

उरालि असखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

अर्थ–तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नीच गोत्रका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर असख्यात कालतक जानना चाहिये। आयुकर्मका निरन्तर बन्धकाल अन्तमुहूर्त है। औदारिक शरीरका निरन्तर बन्धकाल असख्यात पुद्गल परावर्त है, और सातवेदनीयका निरन्तर बन्धकाल कुछ कम एक पूर्वकोटी है।

भावार्थ–तिर्यञ्चद्विक और नीचगोत्र जघन्यसे एक समयतक बंधते हैं, क्योंकि दूसरे समयमें उनकी विपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय या वायुकायमें जन्म लेता है, तो उसके तिर्यग्द्विक और नीच गोत्रका बन्ध तबतक बराबर होता रहता है, जबतक वह जीव उस कायमें ही बना रहता है, क्योंकि तेजस्काय और वायुकायमें तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वीके सिवाय किसी दूसरी गति और आनुपूर्वीका बन्ध नहीं होता और न उच्चगोत्रका ही बन्ध होता है। तेजस्काय और वायुकायमें जन्म लेने वाला जीव असख्यात लोकाकाशोंके जितने प्रदेश होते हैं, अधिकसे अधिक उतने समयतक बराबर तेजस्काय या वायुकायमें ही जन्म लेता रहता है, अत उक्त तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल असख्यात समय अर्थात् असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तमुहूर्तके बाद उसका बन्ध रुक जाता है। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध एक भवमें एक ही बार होता है और वह अधिकसे अधिक अन्तमुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्मका जघन्य बन्धकाल एक समय और उत्कृष्ट बन्धकाल असख्यात पुद्गलपरावर्त [illegible] जीव एक समयतक औदारिक शरीरका बन्धकर [illegible] समय [illegible] वैक्रियशरीर वगैरहका

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ पिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अबन्धकालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर चारपल्यकी स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय

---

१ पञ्चसंग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एक दम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसङ्ग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यंच अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक संसारमें भ्रमण करता है।

बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥

अर्थ—पराघात, उच्छ्वास, पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसचतुष्कका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एक सौ पिचासी सागर है। तथा, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्रसंस्थानका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है।

भावार्थ—पराघात आदि सात प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय है, क्योंकि ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः एक समयके बाद इनकी विरोधी प्रकृतियाँ इनका स्थान ले लेती हैं, तथा, इनका उत्कृष्ट बन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर है। यद्यपि गाथामें केवल एकसौ पिचासी सागर ही लिखा है, तथापि चार पल्य और भी समझना चाहिये, क्योंकि इनकी विपक्षी प्रकृतियोंका जितना अबन्धकाल होता है, उतना ही इनका बन्धकाल होता है। पहले गाथा ५६में इनकी विपक्षी स्थावर चतुष्क वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर बतला आये हैं, अतः इनका बन्धकाल भी

---

१ इह च 'सचतुःपल्यम्' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतुःपल्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम्। यतो यावानतेद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति। पञ्चसङ्ग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति। पञ्चमकर्मग्रन्थकी स्वो० टी० पृ० ६०।

अर्थ—यद्यपि चार पल्य सहित नहीं कहा है, फिर भी 'चारपल्य सहित' ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि जितना इनके विपक्षी प्रकृतियोंका बन्धकाल है उतना ही इनका बन्धकाल है। पञ्चसङ्ग्रह वगैरहमें उपलक्षण वगैरह किसी कारणसे जो चारपल्य अधिक नहीं कहा है उसका आशय हम नहीं जानते हैं।

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ बिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अबन्धकालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर चारपल्यकी स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुनः मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय

---

१ पञ्चसंग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एकदम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। पञ्च० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसंग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यञ्च अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक संसारमें भ्रमण करता है।

है और उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है । क्योंकि गाथा ५७में इनकी विरोधी प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है, अतः इनका बन्धकाल भी उसी क्रमसे उतना ही समझना चाहिये ॥

अमुखगइ-जाइ-आगिइ-संघयणा-हार-नरय-जोयदुग ।
थिर-सुभ-जस-थावरदस-नपु-इत्थी-दुजुयल-ममाय ॥ ६१ ॥
समयादंतमुहुत्तं मणुदुग जिण-वइर-उरलुवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

अर्थ—अप्रशस्त विहायोगति, अशुभजाति अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ संहनन अर्थात् ऋषभनाराच आदि अन्तके पाँच संहनन, अशुभ आकृति अर्थात् न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान वगैरह अन्तके पाँच संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर आदि दस, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, तथा असातवेदनीय, इन इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है । मनुष्यद्विक, तीर्थङ्कर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट बन्धकाल ३३ सागर है । तथा, आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है ।

भावार्थ—अप्रशस्त विहायोगति आदि इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है । ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं अतः अपनी अपनी विरोधी प्रकृतिके बन्धकी सामग्रीके होनेपर अन्तर्मुहूर्तके बाद इनका बन्ध रुक जाता है । इनमेंसे सात वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी विरोधिनी असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तरबन्ध अन्त-

मुहूर्त तक होता ही है। किंतु उसके बादके गुणस्थानोंमें भी उनका बंधकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है, क्योंकि उन गुणस्थानोंका काल अन्तमुहूर्त ही है।

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, तीर्थङ्करनाम, वज्रऋषभनाराचसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका निरन्तर बंधकाल अधिकसे अधिक तेतीस सागर बतलाया है, क्योंकि अनुत्तरवासी देवके मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बंध होता है, अतः वह अपने जन्म समयसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक उक्त प्रकृतियोंके विरोधी नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, देवद्विक, वैक्रियद्विक और पाँच अशुभ संहननोंका बंध नहीं करता। तथा तीर्थङ्कर प्रकृतिकी कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है, इसलिये वह भी तेतीस सागर तक बराबर बधती रहती है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन पाँच प्रकृतियोंमेंसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवाय शेष चार प्रकृतियोंका जघन्य बंधकाल एक समय है क्योंकि उन प्रकृतियोंकी विरोधिनी प्रकृतियाँ भी हैं।

ऊपर बताया गया है कि अध्रुवबंधिनी प्रकृतियोंका जघन्य बंधकाल एक समय है। इस परसे यह आशङ्का हो सकती है कि क्या सभी अध्रुवबंधिनी प्रकृतियोंका जघन्य बंधकाल एक समय है? उसका समाधान करनेके लिये ग्रंथकारने लिखा है कि चारों आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य बंधकाल भी अन्तमुहूर्त प्रमाण ही है। अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति वगैरह इकतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बंधकाल ही अन्तमुहूर्त नहीं है किन्तु आयु वगैरहका जघन्य बंधकाल भी अन्तमुहूर्त है। इस प्रकार अध्रुवबंधिनी होने पर भी इनके जघन्य बंधकालमें अन्तर है। आयुकर्मके बंधकालके बारेमें तो पहले ही लिख आये हैं कि एक भवमें केवल एक बार ही आयुका बंध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्तके लिये ही होता है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य बंधकाल इस प्रकार घटित होता है—कोई जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध करके उपशमश्रेणि चढ़ा। वहाँ नवमें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानमें उसने तीर्थङ्करका बंध नहीं किया, क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिके बंधका निरोध

हीनाधिकता देखी जाती है । अर्थात् उन्हीं सूखे तृणोंको खाकर ऊटनी खूब गाढा दूध देती है और उसमें चिकनाई बहुत अधिक रहती है। भैंसके दूधमें उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है । गायके दूधमें उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है और बकरीके दूधमें सबसे कम गाढापन और चिकनाई रहती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकारके तृण घास वगैरह भिन्न भिन्न पशुओंके पेटमें जाकर भिन्न भिन्न रसरूप परिणत होते हैं, उसी प्रकार एक ही प्रकारके कर्मपरमाणु भिन्न भिन्न जीवोंके भिन्न भिन्न कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रसवाले हो जाते हैं। इसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं । जैसे भैंसके दूधमें अधिक शक्ति होती है और बकरीके दूधमें कम, उसी तरह शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारकी प्रकृतियोंका अनुभाग तीव्र भी होता है और मन्द भी होता है । अर्थात् अनुभागबन्धके दो प्रकार हैं—एक तीव्र अनुभागबन्ध और दूसरा मन्द अनुभागबन्ध, और ये दोनों ही तरहके अनुभागबन्ध शुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं । अतः अनुभागबन्ध द्वारका उद्घाटन करते हुए ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके तीव्र और मन्द अनुभाग बन्धका कारण बतलाते हैं—

तिव्वो असुहसुहाण संकेसविसोहिउ विवज्जयउ ।
मदरसो

अर्थ—सक्लेशपरिणामोंसे अशुभप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है और विशुद्ध भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है । तथा, विपरीत भावोंसे उनमें मन्द अनुभागबन्ध होता है । अर्थात् विशुद्धभावोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है और सक्लेश भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है ।

भावार्थ—रस या अनुभाग दो प्र

और ये दोनों ही प्रकारका अनुभाग अशुभ प्रकृतियोंमें भी होता है और शुभप्रकृतियोंमें भी होता है। अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको नीम वगैरह वनस्पतियोंके कडुवे रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीमका रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतियोंका रस भी बुरा समझा जाता है, क्योंकि अशुभ प्रकृतियां अशुभ ही फल देती हैं। तथा शुभ प्रकृतियोंके रस को इक्षुके रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे इखका रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंका रस सुखदायक होता है। इन दोनोंही प्रकारकी प्रकृतियोंके तीव्र और मन्दरसकी चार चार अवस्थायें होती हैं। जैसे, नीमसे तुरन्त निकाला हुआ रस स्वभावसे ही कटुक होता है। उस रसको अग्निपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो कटुकतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर कटुकतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त कटुक होजाता है। तथा, इक्षुका परोंसे जो रस निकलता है वह स्वभावसे ही मधुर होता है। उस रसको आगपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो मधुरतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर मधुरतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका तीव्र रस भी चार प्रकारका होता है—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। तथा जैसे उस कटुक या मधुर रसमें एक चुल्लू पानी डालदेनेसे वह मन्द हो-जाता है, एक गिलास पानी डालदेनेसे वह मन्दतर होजाता है, एक लोटा पानी डालदेनेसे वह मन्दतम होजाता है और एक घड़ा पानी डालदेनेसे वह अत्यन्त मन्द होजाता है। उसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका मन्द रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अत्यन्त मन्द, इस तरह चार प्रकार का होता है। इस तीव्रता और मन्दताका कारण कषायकी तीव्रता और मन्दता है। तीव्र कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र [illegible] म प्रकृतियोंमें मंद अनुभागबन्ध होता है, तथा, [illegible] और शुभ

प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है । इसी बातको दूसरी रीतिसे यदि और भी स्पष्टकरके कहा जाय तो कहना होगा कि संक्लेश परिणामोंका वृद्धि और विशुद्ध परिणामोंकी हानि होनेसे बयासी अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बन्ध होता है, और बयालीस शुभ प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। तथा, संक्लेश परिणामोंकी मन्दता और विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धि होनेसे बयालीस पुण्यप्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभागबन्ध होता है, और बयासी पाप प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है । इन चारों प्रकारोंको क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है । अर्थात् एकस्थानिकसे तीव्र द्विस्थानिकसे तीव्रतर त्रिस्थानिकसे तीव्रतम और चतुःस्थानिकसे अत्यन्ततीव्रका ग्रहण किया जाता है । सारांश यह है कि रसके असंख्य प्रकार हैं और उन सबका समावेश उक्त चार प्रकारोंमें होजाता है । अर्थात् एक एकमें असंख्य असंख्य प्रकार जानने चाहियें ।

अब तीव्र और मन्द अनुभागबन्धके उक्त चार चार भेद जिन कारणों से होते हैं, उन कारणोंका निर्देश करते हैं—

गिरिमहिरयजलरेहासरिस[1]कसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइ[2]आवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥[3]

१–सरिक–ख० पु० ।   २–देसघाव–ख० पु० ।

३ 'आवरणसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ ।
चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥१४८॥' पञ्चस०

अर्थ–ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी देशघाती प्रकृतियाँ, पुरुषवेद,

है। इस कषायका उदय होनेपर पुण्यप्रकृतियोंमें चतु स्थानिक रसबन्ध होता है और पापप्रकृतियोंमें केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुकरूप ही रस बन्ध होता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सञ्ज्वलन कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें क्रमश चतु स्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबन्ध होता है, तथा शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है। इस प्रकार अनुभागबन्धके चारों प्रकारोंका कारण चारों कषायोंको बतला कर, किस प्रकृतिमें कितने प्रकारका रसबन्ध होता है यह बतलाते हैं।

पाच अन्तराय आदि सतरह प्रकृतियोंमें एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक, इसप्रकार चारों ही प्रकारका रसबन्ध होता है। इनमेंसे इनका एकस्थानिक रस तो नवें गुणस्थानके सख्यात भाग बीतजानेपर बधता है। और उससे नीचेके गुणस्थानोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है। इन सतरहके सिवाय शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है, किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि शेष प्रकृतियोंमें ६५ पाप प्रकृतियां हैं, और नवें गुणस्थानके सख्यातभाग बीतजाने पर उनका बन्ध नहीं होता है। अत उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है क्योंकि अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नवें गुणस्थानके संख्यात भाग बीतजानेपर ही होता है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि उक्त ६५ अशुभप्रकृतियोंमें से यद्यपि केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरणका बन्ध दसवें गुणस्थानतक होता है किन्तु ये दोनों प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं, अत उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है।

शेष ४२ पुण्यप्रकृतियोंमें भी एकस्थानिक [illegible] है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—जैसे [illegible] सीढ़ि चढ़ना पड़ती है, उत्तरसे उत [illegible]

है। उसी तरह [illegible] जैसे जैसे [illegible] चढ़ता है, विशुद्ध [illegible] है। तथा, उप-शमश्रेणि चढ़ते समय जितने विशुद्धि[illegible] चढ़ता है गिरते समय उतने ही संक्लेश[illegible] चढ़ता है। अतः [illegible] जितने संक्लेशके स्थान हैं, उतने विशुद्धिके [illegible] हैं। [illegible] चढ़ते समय जितने विशुद्धि स्थान होते हैं उतने [illegible] संक्लेश[illegible] होते हैं। किन्तु विशुद्धिके स्थान संक्लेशके [illegible] अधिक हैं, क्योंकि क्षपकश्रेणि चढ़ने वाला जीव जिन विशुद्धि स्थानोंपर चढ़ता है उन पर से फिर नीचे नहीं उतरता। यदि उन विशुद्धि [illegible] बराबर संक्लेश स्थान भी होते तो उपशमश्रेणि[illegible] [illegible] [illegible] अवश्य होता। किन्तु ऐसा नहीं [illegible] क्षपकश्रेणि पर आरोहण करनेके बाद जीव नीचे नहीं आता, अतः [illegible] निश्चय निकलता है कि उनके बराबर संक्लेशस्थान नहीं है। अतः संक्लेशस्थानोंसे विशुद्धिस्थानोंकी संख्या अधिक है और क्षपकश्रेणिमें विशुद्धिस्थान ही होते हैं। इन अनन्त विशुद्धिस्थानोंके रहते हुए शुभ प्रकृतियोंका [illegible] ही [illegible] होता है। तथा, अत्यन्त संक्लेशस्थानोंके रहते हुए शुभ प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं होता है। अत्यन्त संक्लेशके समय [illegible] नरक गतिके योग्य वैक्रियिकशरीर वगैरह शुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, किन्तु उस समय भी उनमें [illegible] स्वभावसे द्विस्थानिक ही [illegible] होता है। तथा, जिन मध्यम परिणामोंसे शुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, उनमें भी उनका द्विस्थानिक ही रसबन्ध होता है। [illegible] शुभ प्रकृतियोंमें कहीं पर भी एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता। [illegible] अनुभागबन्ध स्थानोंके कारण [illegible] ही स्थान हैं।

यहाँ [illegible] बतलाकर, अब शुभ और [illegible] ही [illegible] हैं—

निंबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग कड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाण तु ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसे नीमका रस कडुआ और ईखका रस मीठा होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियोंका रस अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका रस शुभ होता है। तथा, जैसे नीम और ईखके रसमें स्वाभाविक रीतिसे एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात् उनमें स्वभाव एक सी ही कटुकता और मधुरता रहती है किन्तु आग पर रख कर उसका क्वाथ करने पर उनमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस हो जाता है, अर्थात् पहलेसे दुगुना, तिगुना और चौगुना कडुआपन और मिठास आ जाता है। उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंमें संक्लेश के बढ़नेसे अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और अत्यन्त अशुभ, तथा शुभ प्रकृतियोंमें विशुद्धिके बढ़नेसे शुभ, शुभतर, शुभतम और अत्यन्तशुभ रस पाया जाता है।

भावार्थ—पहले जो अनुभागबंधके एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये थे, इस गाथामें उन्हीका स्पष्टीकरण किया है, और उन्हें समझानेके लिये अशुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा नीमके रससे और शुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा ईखके रससे दी है। जैसे नीमका रस कडुआ होता है और पीनेवालेके मुखको एकदम कडुआ कर देता है, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है। तथा, जैसे ईखका रस मीठा और आनन्ददायक होता है उसी तरह शुभ प्रकृ-

१ 'घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो अणंतगुणिया कमेणियरे ॥१५०॥' पञ्चसं० ।
अर्थ—अशुभ प्रकृतियोंके एकस्थानिक रसको घोषातकी नीम वगैरहकी उपमा दी जाती है और शुभ प्रकृतियोंके रसको खीर खांड [illegible] उपमा दी जाती है। बाकीके द्विस्थानिक त्रिस्थानिक वगैरह [illegible] गुणे रस वाले होते हैं।'

तियोंका रस भी जीवको आह्लादक होता है।

नीम और ईखको पेरने पर उनमेंसे जो स्वाभाविक रस निकलता है वह स्वभावसे ही कडुआ और मीठा होता है। उस कडुवाहट और मीठेपनको एकस्थानिक रस समझना चाहिये। नीम और ईखका एक एक सेर रस लेकर उसे यदि आग पर पकाया जाय और जलकर वह आध आध सेर रह जाय तो उसे द्विस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उस पके हुए रसमें दूना कडुवाहट और दूनी मधुरता हो जाती है। वही रस पक कर जब एक सेरका तिहाई शेष रह जाता है तो उसे त्रिस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पहलेके स्वाभाविक रससे तिगुनी कडुवाहट और तिगुना मीठापन पाया जाता है। तथा वही रस पकते पकते जब एक सेरका एक पाव शेष रह जाता है, तो उसे चतुःस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उसमें चौगुना कडुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है। इसी प्रकार कषायकी तीव्रताके बढ़नेसे अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है। और कषायकी मन्दताके बढ़नेसे शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्धका निषेध कर आये हैं।

जैसे नीमके एकस्थानिक रससे द्विस्थानिक रसमें दूनी कडुआहट होती है, और त्रिस्थानिकमें तिगुनी कडुआहट होती है। उसी प्रकार अशुभप्रकृतियोंके जो स्पर्द्धक सबसे जघन्य रसवाले होते हैं, वे एकस्थानिक रस वाले कहे जाते हैं उनसे द्विस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंमें भी समझ लेना चाहिये।

घातिकर्मोंकी जो प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं उनके सभी स्पर्द्धक सर्व-

बन्ध जन्मसे हो नही होता । अत नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च उक्त तीनों प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नही करते, किन्तु ईशान स्वर्गतकके मिथ्यादृष्टि देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं।

विकलत्रय आदि ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है, क्योंकि तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुके सिवाय शेष नौ प्रकृतियोंको नारक और देव तो जन्मसे ही, नहीं बांधते हैं। तथा तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध वे ही जीव करते हैं जो मरकर भोगभूमिमें जन्म लेते हैं, अत देव और नारक इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं कर सकते। किन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। इसीप्रकार शेष प्रकृतियों-का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी अपने अपने योग्य संक्लेश परिणामोंके धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही करते हैं, अत उक्त ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उन्हींके होता है।

तथा,तिर्यञ्चद्विक और सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देवों और नारकोंके होता है, क्योंकि यदि तिर्यञ्च और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हों तो उनके नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। किन्तु देव और नारक अतिसंक्लिष्ट परिणाम होनेपर भी तिर्यञ्चगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। अत उक्त तीन प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी देवों और नारकोंको बतलाया है। यहां इतना विशेष वक्तव्य है कि देवगतिमें सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपर सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं, ईशान स्वर्गतकके देव उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं करते, क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव अति संक्लिष्ट परिणामोंके होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। किन्तु सेवार्तसंहनन एकेन्द्रियके योग्य नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियोंके संहनन नहीं होता है ॥

**विउव्वि सुरा-हारदुग सुखगइ-वन्नचउ-तेय-जिण-साय ।
समचउ-परघा-तसदस-पणिंदि-सासु-च्च खवगाउ ॥६७॥**

अर्थ—वैक्रियद्विक, सुरद्विक, आहारकद्विक, प्रशस्त विहायोगति, वर्ण-चतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु और निर्माण), तीर्थङ्कर, सातवेदनीय, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, त्रसनाम आदि दस, पञ्चेन्द्रिय जाति, उछ्वास, और उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके होता है ।

भावार्थ—इस गाथामें वैक्रियद्विक आदि बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्योंको बतलाया है। उनमें से सातवेदनीय, उच्चगोत्र और त्रसदशकमसे यशःकीर्तिका उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है, क्योंकि इन तीनों प्रकृतियोंके बन्धकोंमें वही सबसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अति विशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इन तीनके सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अपूर्वकरण गुणस्थानके छठे भागमें देव-गतिके योग्य प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्तिके समयमें होता है। क्योंकि इन प्रकृति-योंके बाँधनेवालोंमें अपूर्वकरण क्षपक ही अति विशुद्ध होता है। इसप्रकार इन बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपक मनुष्य ही होता है।।

**तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुय-उरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥**

अर्थ—सातवें नरकके नारक उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि देव करते हैं। देवायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अप्र-मत्तसंयत मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका तीव्र अनुभागबन्ध चारों ही गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—उद्योत प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी सातवें नरकके नारकीको बतलाया है। उसका विशेष खुलासा इसप्रकार है—सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते समय अनिवृत्तिकरणमें मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। उसके करनेपर मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग हो जाते हैं, एक अन्तरकरणसे नीचेकी स्थिति, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और जिसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और दूसरी उससे ऊपरकी स्थिति, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्वकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नीचेकी स्थितिके अन्तिम समयमें, अर्थात् जिससे आगेके समयमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उस समयमें, उस जीवके उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः विशुद्ध परिणामोंसे ही उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। तथा, उसके बाँधनेवालोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही अतिविशुद्ध परिणामवाला है, क्योंकि अन्यगतिमें इतनी विशुद्धिके होनेपर मनुष्य गति अथवा देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही उत्कृष्ट रसबन्ध होता है। किन्तु उद्योत प्रकृति तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंमेंसे है, और सातवें नरकका नारक मरकर नियमसे तिर्यञ्चगतिमें जन्मलेता है, अतः सातवें नरकका नारक मिथ्यात्व में प्रतिसमय तिर्यञ्चगतिके योग्य कर्मोंका बन्ध करता है, अतः उसका ही ग्रहण किया है।

मनुष्यद्विक आदि पाँच प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी सम्यग्दृष्टी देवोंको बतलाया है। यद्यपि विशुद्ध नारक भी इन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध कर सकते हैं, किन्तु वे सर्वदा नरकके कष्टोंसे पीड़ित रहते हैं, तथा उन्हें देवोंकी तरह तीर्थङ्करोंकी विभूतिके दर्शन, उनके दिव्य उपदेशका श्रवण, नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालयोंका वन्दन आदि परिणामोंको विशुद्ध करनेयोग्य सामग्री नहीं मिलती है, अतः उनका ग्रहण नहीं किया है। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्य अति विशुद्ध परिणामोंके होनेपर देवगतिके

योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। किन्तु प्रकृत प्रकृतियाँ देवगतिके योग्य नहीं हैं अतः उनको छोड़कर देवोंके ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध बतलाया है। देवायुके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी अप्रमत्तमुनिको बतलाया है क्योंकि देवायुका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत वगैरहसे वही अतिविशुद्ध होते हैं।

इसप्रकार ४२ पुण्य प्रकृतियोंके और चौदह पाप प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर शेष ६८ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभाग बन्धका स्वामी चारों गतिके संक्लिष्टपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब उनके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंका विचार करते हैं—

थीणतिगं अण मिच्छं मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, इन आठ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख देशविरत गुणस्थानवाला जीव करता है। अरति और शोकका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख प्रमत्तमुनि करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर इस गाथाके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। पहले बतलाया था कि

---

१ कर्मकाण्ड गा० १६१-१६९ में उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंका निरूपण किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

करते हैं। किन्तु औदारिक अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव उत्कृष्ट संक्लेश होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, और एकेन्द्रियोंके अङ्गोपाङ्ग नहीं होता है। अतः ईशान स्वर्गतकके देवोंके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है।

शङ्का–ईशान स्वर्गतकके देव अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध न करें, तो न करें, किन्तु मनुष्य और तिर्यञ्च इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्य बन्ध क्यों नहीं करते ?

उत्तर–तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंके बन्धके साथ ही इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अर्थात् जो जीव तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करता है वही इनका जघन्य अनुभागबन्ध भी करता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हों, जितने इन प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके लिये आवश्यक हैं, तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। अतः उनके इन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं बतलाया है॥

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरय विणिग-थावरय।
आसुहुमायव सम्मो व साय-थिर-सुभ-जसा सिअरा ॥७२॥

अर्थ–तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नीचगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध सातवें नरकके नारक करते हैं। तीर्थङ्करनाम कर्मका जघन्य अनुभागबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सिवाय शेष तीनों गतिके जीव करते हैं। आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध सौधर्म स्वर्गतकके देव करते हैं। सातवेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, और उनके प्रतिपक्षी– असातवेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यञ्चगति आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे सातवें नरकमें बतलाया है। विशेष से, सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जब यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता हुआ अन्तके अनिवृत्तिकरणको करता है, तो वहाँ अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें उक्त तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। ये तीनों प्रकृतियाँ अशुभ हैं अतः सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। और उनके बन्धकोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। इस प्रकारकी विशुद्धिके होनेपर दूसरे जीव मनुष्यद्विक वगैरह और उच्चगोत्रका ही बन्ध करते हैं, अतः यहाँ सप्तम पृथिवीके नारकका ही ग्रहण किया है।

तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके बतलाया है। विशेष से बद्धनरकायु अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य नरकमें उत्पन्न होनेके लिये जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है तब वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध करता है क्योंकि यह प्रकृति शुभ है। खुलासा यह है कि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। किन्तु शुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेशसे होता है और वह संक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमें मिथ्यात्वके अभिमुख अविरतसम्यग्दृष्टिके ही होता है, अतः उसीका ग्रहण किया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, अतः यहाँ मनुष्यका ग्रहण किया है। जिस मनुष्यने तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले नरककी आयु नहीं बाँधी है, वह मरकर नरकमें नहीं जाता, अतः बद्धनरकायुका ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणिक राजाकी तरह सम्यक्त्वसहित मरकर नरकमें उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु वे विशुद्ध होते हैं अतः तीर्थङ्कर-प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं कर सकते। इसलिये उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगति के सिवाय शेष तीन गतियोंके परावर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव करते हैं। ये दोनों प्रकृतियां अशुभ हैं, अतः अतिसंक्लिष्ट जीव उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, और अतिविशुद्ध जीव इनको छोड़कर पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामकर्मका बन्ध करता है। इसलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामका बंध करके जब दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें भी उन्हीं प्रकृतियोंका बंध करता है, तब भी वह मध्यम परिणाम रहता है। किन्तु उस समय उस अवस्थित परिणाममें उतनी विशुद्धि नहीं रहती है, अतः परावर्तमान मध्यम परिणामका ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब एकेन्द्रिय जाति और स्थावरनामका बंध करके पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामका बंध करता है और उनका बंध करके पुनः एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बंध करता है, तब इसप्रकारका परिवर्तन करके बंध करनेवाला परावर्तमान मध्यमपरिणामवाला जीव अपने योग्य विशुद्धिके होनेपर उक्त दो प्रकृतियोंका जघन्य अनुभाग बंध करता है।

आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गतकके देवोंके बतलाया है। गाथामें यद्यपि 'आसुहम्म' पाठ है और उसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्गतक' होता है, तथापि सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणीमें वर्तमान हैं अतः सौधर्मके ग्रहणसे ईशानका भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि भवनपतिसे लेकर ईशान स्वर्गतकके देव आतपप्रकृतिके बन्धकोंमें विशेष संक्लिष्ट होते हैं, अतः एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बंध करते समय वे आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः संक्लिष्ट जीवोंके ही उसका जघन्य अनुभागबंध होता है। तथा, इतने संक्लिष्ट परिणाम यदि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होते हैं तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बंध करते हैं। और नारक तथा सानत्कुमार आदि

स्वर्गोंके देव जन्मसे ही इस प्रकृतिका बन्ध नहीं करते हैं। अत उनको छोड़कर ईशान स्वर्गतकके देवोंको ही उसका बन्धक बतलाया है।

सातवेदनीय आदि आठ प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है—प्रमत्तमुनि एक अन्तर्मुहूर्ततक असातवेदनीयकी अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वह सातवेदनीयका बन्ध करता है, पुन असातवेदनीयका बन्ध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरतसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साता का बन्ध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साताका बन्ध तबतक करता है, जबतक सातवेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागर होती है। उसके बाद और भी संक्लिष्ट परिणाम होनेपर केवल असाताका ही तब तक बन्ध करता है जबतक उसकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्तसे ऊपर अप्रमत्त आदि गुणस्थानवाले जीव केवल सातवेदनीयका ही बन्ध करते हैं। इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि सातवेदनीयके जघन्य अनुभागबन्धके योग्य परावर्तमान मध्यमपरिणाम सातवेदनीयकी पन्द्रह कोटाकोटी सागर स्थितिबन्धसे लेकर छट्ठे गुणस्थानमें असातवेदनीयके अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध तक पाये जाते हैं। सारांश यह है कि परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते हैं जबतक प्रतिपक्षी प्रकृतिका बन्ध होता है। अत जबतक साताके साथ असाताका भी बन्ध सम्भव है तभीतक परावर्तमान परिणाम होते हैं। किन्तु सातवेदनीयके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने संक्लिष्ट होते हैं कि उनसे असातवेदनीयका ही बन्ध हो सकता है। तथा छट्ठे गुणस्थानके अन्तमें असातवेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे

कारण उसके आगे विशुद्धिसे केवल सातवेदनीयका ही बंध होता है। अतः दोनोंके बीचमें ही इसप्रकारके परिणाम होते हैं जिनसे उनका जघन्य अनुभागबंध होता है। इसीलिये सातवेदनीय और असातवेदनीयके जघन्य अनुभागबंधका स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोटीकोटी सागर बतलाई है। प्रमत्तमुनि अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको बांधता है। फिर विशुद्धिकी वजहसे उनकी प्रतिपक्षी स्थिरादिक प्रकृतियोंका बंध करता है। उसके बाद पुनः अस्थिरादिकका बंध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिथ्यादृष्टि जीव स्थिरादिकके बाद अस्थिरादिकका और अस्थिरादिकके बाद स्थिरादिकका बंध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियोंका उक्त प्रकारसे तबतक बंध करता है जबतक स्थिरादिकका उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके योग्य इन स्थितिबंधोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबंध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें स्थिरादिकके उत्कृष्ट स्थितिबंधके पश्चात् तो अस्थिरादिकका ही बंध होता है और अप्रमत्तादिक गुणस्थानोंमें स्थिरादिकका ही बंध होता है। पहलेमें संक्लेश परिणामोंकी अधिकता है और दूसरेमें विशुद्ध परिणामोंकी अधिकता है। अतः दोनों ही में रसबंध अधिक मात्रामें होता है। इसलिये इन दोनोंके सिवाय ऊपर बतलाये गये शेष स्थानोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य रसबंध होता है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबंधके स्वामियोंका विवरण जानना चाहिये।

तस-वन्न-तेयचउ-मणु-खगइदुग-पणिंदि-सास-परघुच्च ।
संघयणा-गिइ-नपु-त्थी-सुभगियरति मिच्छ चउगइया॥७३॥

अर्थ—त्रस आदिक चार, वर्ण आदिक चार, तैजस आदि चार, मनुष्यद्विक, दोनों विहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह संहनन, छह संस्थान, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सुभग आदि तीन और उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारोंगतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें त्रसचतुष्क आदि चवालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है। जिनमेंसे त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभवर्ण, शुभरस, शुभगन्ध, शुभस्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघात, इन पन्द्रह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके उत्कृष्ट सक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। ये प्रकृतियां शुभ हैं अतः उत्कृष्ट सक्लेशसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। चारों गतिके मिथ्यादृष्टियोंमेंसे तिर्यञ्च और मनुष्य उत्कृष्ट सक्लेशके होनेपर नरकगतिके साथ उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् जिस समय उनके इतने सक्लिष्ट परिणाम होते हैं कि उनकी वजहसे वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं उसी समय उनके उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव सक्लेशके होनेपर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्यायके योग्य उक्त प्रकृतियोंको बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसको छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियोंको एकेन्द्रिय जातिके योग्य बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चपर्यायमें जन्म लेनेके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव एकेन्द्रिय पर्यायमें

जन्म लेनेके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उन प्रकृतियों-का जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनाम कर्मका बन्ध ईशान स्वर्गतकके देवोंके विशुद्ध दशामें ही होता है, अतः उनके इन दोनों प्रकृतियोंका जघन्य रसबन्ध नहीं होता। इसीसे इन दोनोंको छोड़ दिया है।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि ये प्रकृतियाँ अशुभ हैं। मनुष्यद्विक, छह संहनन, छह संस्थान, विहायोगतिका युगल, सुभग, सुस्वर, आदेय, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और उच्चगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके इनका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च और सम्यग्दृष्टि-मनुष्य देवद्विकका ही बन्ध करते हैं—मनुष्यादिद्विकका बन्ध नहीं करते, संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थानका ही बन्ध करते हैं। संहननका बन्ध ही नहीं करते हैं। तथा शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्चगोत्र का ही बन्ध करते हैं, उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदिका बन्ध नहीं करते। और सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक भी मनुष्यद्विकका ही बन्ध करते हैं—तिर्यञ्चद्विक वगैरहका बन्ध नहीं करते। संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थान का और संहननोंमेंसे वज्रर्षभनाराचसंहननका बन्ध करते हैं। विहायो-गति वगैरह भी शुभ ही बाँधते हैं। अतः उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। और उनका बन्ध न होनेसे परिणामोंमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन न होनेसे परिणाम विशुद्ध बने रहते हैं अतः उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है। इसीसे सम्यग्दृष्टिका ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई चवालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको जानना चाहिये।

---

१ कर्मकाण्डमें गा० १७० से १७७ तक जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियों को गिनाया है। जिसमें कर्मग्रन्थसे कोई अन्तर नहीं है।

जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें अनुभागबन्धके भङ्गोंका विचार करते हैं—

चउ[1]तेय-वन्न-वेयणिय-नामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसम्मि दुहा

अर्थ—तैजस आदि चार, वर्ण आदि चार, वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकारका होता है। शेष ध्रुवबन्धी प्रकृतियोंका और घातिकर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध भी सादि आदि चार प्रकारका होता है। गोत्रकर्मका अनुत्कृष्ट और अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेषबन्ध और शेषप्रकृतियोंके सभी बन्ध दो ही प्रकारके होते हैं।

भावार्थ—कर्मोंकी सबसे कम अनुभाग शक्तिको सर्वजघन्य कहते हैं, और सर्वजघन्य अनुभागशक्तिसे ऊपरके एक अविभागी अंशको आदि लेकर सबसे उत्कृष्ट अनुभाग तकके भेदोंको अजघन्य कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदमें अनुभागके अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं। तथा, सबसे अधिक अनुभाग शक्तिको उत्कृष्ट कहते हैं। और उसमेंसे एक अविभागी अंश कम शक्तिसे लेकर सर्वजघन्य अनुभाग तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदमें भी अनुभाग शक्तिके समस्त भेद गर्भित होजाते हैं। उदाहरणके लिये, यदि सर्वजघन्य अनुभागका प्रमाण ८ और सबसे उत्कृष्ट अनुभागका प्रमाण १६ कल्पना किया जाय, तो ८ को सर्वजघन्य कहेंगे और आठसे ऊपर नौसे लेकर १६ तकके भेदोंको अजघन्य कहेंगे। इसी तरह १६ को उत्कृष्ट कहेंगे और १६

---

१ पञ्चसङ्ग्रह गा० २७२-२७३ में भी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्धोंके विकल्प इसी प्रकार बताए हैं।

से एक कम १५ से लेकर ८ तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहेंगे।

इस गाथाम मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें इन भेदोंका विचार उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भङ्गोंके साथ किया है। एकही गाथामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें विचार किया है, जो अनमनद्धका जान पड़ता है। किन्तु सक्षेपमें वर्णन करनेके विचारसे ही ऐसा किया गया है। गाथामें बतलाये गये भेदोंका खुलासा निम्नप्रकार है—तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस और शुभस्पर्श, इन आठ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य तीस प्रकृतियोंके बन्धविच्छेदके समय होता है। इसके सिवाय अन्य स्थानोंमें, यहाँतक कि उपशमश्रेणिमें भी, उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध ही होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध बिल्कुल नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर जब कोई जीव उक्त प्रकृतियोंका पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहा जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेसे पहले उनका बन्ध अनादि कहाता है, क्योंकि उस जीवके वह बन्ध अनादिकालसे होता चला आता है। भव्य जीवका बन्ध अध्रुव और अभव्य जीवका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्कका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें बतला आये हैं। वह बन्ध इससे पहले नहीं होता है, अतः सादि है, और एक समयतक होकर आगे नहीं होता है, अतः अध्रुव है। ये प्रकृतियाँ शुभ हैं अतः इनका जघन्य अनुभागबन्ध उत्कृष्ट सक्लेशवाला पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवही करता है। और कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक दो समयके बाद वही जीव उनका अजघन्य अनुभागबन्ध करता

है। कालान्तरमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर वह उनका पुन जघन्य अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव ही होते हैं।

वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी चार प्रकारका होता है, जो इस प्रकार है—वेदनीय कर्मका साता और नामकर्मकी यश कीर्ति प्रकृतिकी अपेक्षासे इन दोनों कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें उक्त दोनों कर्मोंकी उक्त दो ही प्रकृतियाँ बधती हैं। इसके सिवाय अन्य सभी स्थानोंमें वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध नहीं होता है। अत ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, वह सादि है। उससे पहले वह अनादि है। भव्य जीवका बन्ध अध्रुव और अभव्य जीवका बन्ध ध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्मके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके चार भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बन्धके दो ही विकल्प होते हैं, क्योंकि वेदनीय और नामकर्मका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें बतला आये हैं। इससे पहले किसी भी गुणस्थानमें वह बन्ध नहीं होता है, अत सादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानोंमें तो नियमसे नहीं होता है अत अध्रुव है। तथा, इन कर्मोंका जघन्य अनुभागबन्ध मध्यम परिणामवाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभागबन्ध अजघन्यबन्धके बाद होता है, अत सादि है। तथा कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक चार समय तक जघन्यबन्ध होनेके पश्चात पुन अजघन्य बन्ध होता है, अत जघन्य बन्ध अध्रुव है और अजघन्यबन्ध सादि है। उसके बाद उसी भवमें या किसी दूसरे भवमें पुन जघन्यबन्धके होनेपर अजघन्यबन्ध अध्रुव होता है इस प्रकार शेष तीनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।

तैजस चतुष्कके सिवाय शेष ध्रुवबन्धि प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। जो इस प्रकार है—पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायका जघन्य अनुभागबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें होता है। अन्य स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध ही होता है क्योंकि ये प्रकृतियाँ अशुभ हैं। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध ही नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुभागबन्ध होता है वह सादि है, उससे पहले वह बन्ध अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है। संज्वलन चतुष्कका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय होता है, क्योंकि यह अशुभ प्रकृति है। इसके सिवा अन्य सब जगह अजघन्यबन्ध होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता है, अतः वहाँ से च्युत होकर जो अजघन्यबन्ध होता है वह सादि है, इससे पहले अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला अशुभवर्ण, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श, उपघात, भय और जुगुप्साका क्षपक अपूर्वकरणमें अपने अपने बन्धविच्छेदके समयमें एक एक समय तक जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अन्य सब स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। उपशम श्रेणिमें बन्धव्युच्छित्ति करके वहाँ से गिरकर जब पुनः उन्हींका अजघन्य बन्ध होता है तो वह बन्ध सादि है। बन्धव्युच्छित्तिसे पहले उनका वह बन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमकी प्राप्तिके अभिमुख देशविरत अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। उससे पहले उसका जो बन्ध होता है वह अजघन्यबन्ध है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध क्षायिक सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्त विशुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थानके

अन्त समयमें करता है । इसके सिवाय शेष सबने उसका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। स्त्यानर्द्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्तविशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें करता है। इसके सिवाय शेष सबके उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ये देशविरत वगैरह अपनी अपनी उक्त प्रकृतियोंके बन्धकाल अत्यन्तविशुद्ध होते हैं, इसलिये उन उन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। उसके बाद संयम वगैरहको प्राप्त करके, वहाँसे गिरकर जब पुनः उनका अजघन्यानुभागबन्ध करते हैं तब यह बन्ध सादि होता है। उससे पहलेका अजघन्यबन्ध अनादि होता है। अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है और भव्यका बन्ध अध्रुव होता है। इस प्रकार तेतालीस ध्रुव प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके दो दो ही प्रकार होते हैं। जो इस प्रकार हैं—४३ प्रकृतियोंके अजघन्य अनुभागबन्धका विचार करते समय सूक्ष्मसाम्पराय आदि गुणस्थानोंमें उनका जघन्य अनुभागबन्ध बतला आये हैं। वह जघन्य अनुभागबन्ध उन उन गुणस्थानोंमें पहली बार होता है अतः सादि है। बारहवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होता है अतः अध्रुव है। तथा, इन तेतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट सक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक अथवा दो समयतक करता है। उसके बाद पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। कालान्तरमें उत्कृष्ट सक्लेशके होनेपर पुनः उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धमें सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। इस प्रकार ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके अजघन्य आदि चारों भेदोंमें सादि वगैरह भङ्गों का विचार जानना चाहिये।

इसकारणसे सप्तम नरकके नारकका ही ग्रहण किया है, क्योंकि सातवें नरकमें मिथ्यात्वदशामें नीचगोत्रका ही बन्ध बतलाया है। तथा, जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वके अभिमुख नहीं हैं उसके नीचगोत्रका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उच्चगोत्रका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। अतः सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। नीचगोत्रका यह जघन्य अनुभागबन्ध अन्यत्र सम्भव नहीं है और उसी अवस्थामें पहले पहल होता है, अतः सादि है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर वही जीव उच्चगोत्रकी अपेक्षासे गोत्रकर्मका अजघन्य अनुभागबन्ध करता है, अतः जघन्य अनुभागबन्ध अध्रुव है और अजघन्य अनुभागबन्ध सादि है। इससे पहले जो अजघन्य अनुभागबन्ध होता है वह अनादि है। अभव्यका अजघन्यबन्ध ध्रुव है और भव्यका अजघन्यबन्ध अध्रुव है। इसप्रकार गोत्रकर्मके जघन्य अनुभागबन्धके दो और अजघन्य अनुभागबन्धके चार विकल्प होते हैं।

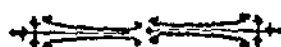
तथा, अवशिष्ट आयुकर्मके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं, क्योंकि भुज्यमान आयुके त्रिभाग वगैरह नियतकालमें ही आयुकर्मका बन्ध होता है अतः उसका जघन्यादि रूप अनुभागबन्ध भी सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद वह बन्ध अवश्य रुक जाता है, अतः बन्धके अध्रुव होनेके कारण उसका

---

१ गोमटसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धके जघन्य अजघन्य आदि प्रकारोंमें सादि वगैरहका विचार दो गाथाओंमें किया है-एकमें मूलप्रकृतियों की अपेक्षासे और दूसरीमें उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षासे। किन्तु कर्मग्रन्थसे उसमें कोई अन्तर नहीं है। देखो-गा० १७८ १७९।

कर्मप्रकृतिके बन्धप्ररूपणा नामक अधिकारकी ६७ वीं गाथाकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें भी अनुभागबन्धमें सादि अनादि भंगोंका विवेचन किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी अध्रुव ही होता है। सारांश यह है कि जब आयुकर्मका बंध ही सादि और अध्रुव होता है, तब उसीके भेद जघन्यादि अनुभागबन्ध तो सादि और अध्रुव होने ही चाहियें। इसप्रकार अनुभागबन्धकी अपेक्षासे मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंमें भङ्गोंका विचार जानना चाहिये।



२० प्रदेशबन्धद्वार

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं। (पुद्गलके एक परमाणुको एक प्रदेश कहते हैं। अतः जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, परमाणुके द्वारा उन पुद्गलस्कन्धोंका परिमाण आँका जाता है कि अमुक समयमें इतने परमाणुवाले पुद्गलस्कन्ध अमुक जीवके कर्मरूप परिणत हुए हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।) जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, उन्हें कर्मवर्गणास्कन्ध कहते हैं। बात यह है कि यह लोक पुद्गलकायसे खूब ठसाठस भरा हुआ है, और वह पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। उन्हीं अनेक वर्गणाओंमसे एक कर्मवर्गणा भी है। ये कर्मवर्गणाएँ ही जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती हैं। अतः प्रदेशबन्धका स्वरूप समझानेके लिये कर्मवर्गणाका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। किन्तु कर्मवर्गणाका स्वरूप तभी जाना जासकता है जब उसके पूर्वकी औदारिक आदि वर्गणाओंका भी स्वरूप बतलाया जावे, अतः बाकीकी वर्गणाओंका स्वरूप भी कहना ही चाहिये। वे शेष औदारिक आदि वर्गणाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक ग्रहणयोग्य और एक अग्रहणयोग्य। अतः अग्रहण वर्गणासे आदि लेकर कर्मवर्गणा पर्यन्त वर्गणाओंका निरूपण करते हैं—

इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

अर्थ—एकाणुक, द्वयणुक आदिको लेकर एक एक परमाणुकी वृद्धि होते होते अभव्यराशिसे अनन्तगुणे परमाणुओंसे जो स्कन्ध तैयार होते हैं, वे औदारिक शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणाएँ होती हैं। उन ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ निष्पन्न होती हैं। ग्रहणवर्गणा अग्रहणवर्गणासे अन्तरित है। अर्थात् ग्रहणवर्गणाके बाद अग्रहणवर्गणा और अग्रहण वर्गणाके बाद ग्रहणवर्गणा आती है।

भावार्थ—(समानजातीय पुद्गलोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।)[1] जैसे समस्त लोकाकाशमें जो कुछ एकाकी परमाणु पाये जाते हैं उन्हें पहली वर्गणा कहते हैं। दो परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें दूसरी वर्गणा कहते हैं। तीन परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें तीसरी वर्गणा कहते हैं। इसप्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते संख्यातप्रदेशी स्कन्धोंकी संख्याताणु वर्गणा, असंख्यातप्रदेशी स्कन्धोंकी असंख्याताणु-वर्गणा, अनन्तप्रदेशी स्कन्धोंकी अनन्ताणुवर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धोंकी अनन्तानन्ताणुवर्गणा जानना चाहिये। ये सभी वर्गणाएँ अल्प परमाणु-वाली होनेके कारण जीवके द्वारा ग्रहण नहीं कीजातीं, इसलिये इन्हें अग्रहण

---

1 एगा परमाणूणं एगुत्तरवड्ढिया तओ कमसो ।
संखेज्जपएसाणं संखेज्जा वग्गणा होंति ॥ ६३६ ॥
तत्तो संखाइआ संखाइयपएसमाणाणं ।
तत्तो पुणो अणंताणंतपएसाण गंतूणं ॥ ६३७ ॥
ओरालियस्स गहणप्पाओग्गा वग्गणा अणंताओ ।
अग्गहणप्पाओग्गा तस्सेव तओ अणंताओ ॥ ६३८ ॥
एवमजोग्गा जोग्गा पुणो अजोग्गा य वग्गणाणंता ।" विशे० भा० ।

वर्गणा कहते हैं। किन्तु अभव्यजीवोंकी राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध जीवोंकी राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनते हैं, अर्थात् जिन स्कन्धोंमें इतने इतने परमाणु होते हैं, वे स्कन्ध जीवके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर-रूप परिणमाता है। इसलिये उन स्कन्धोंको औदारिक वर्गणा कहते हैं। किन्तु औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणाओंमें यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, इसके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं आदि अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक परमाणुवाली औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवें भागमें अनन्त परमाणु होते हैं, अतः जघन्य वर्गणासे लेकर उत्कृष्ट वर्गणापर्यन्त अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जाननी चाहियें।

औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणासे ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी जो वर्गणाएं होती हैं, वे वर्गणाएं एक तो औदारिक शरीरकी अपेक्षासे अधिक प्रदेशवाली होती हैं, दूसरे सूक्ष्म भी होती हैं, अतः औदारिकके ग्रहण योग्य नहीं होतीं। तथा जिन स्कन्धोंसे वैक्रिय शरीर बनता है उन स्कन्धोंकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाले और स्थूल होती हैं, अतः वैक्रिय-शरीरके भी ग्रहणयोग्य नहीं होता। इसप्रकार औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणाके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएं अग्रहण योग्य होती हैं। जैसे, औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसीकी उत्कृष्टवर्गणा अनन्तवें भाग अधिक है। उसीप्रकार अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणासे अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी (अनन्तगुणे अधिक परमाणुवाली) जाननी चाहिये। इस गुणाकारका प्रमाण अभव्यराशिसे अनन्तगुणा और सिद्धराशिका अनन्तवाभाग है। इस उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य

वर्गणाके ऊपर पुनः ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है जिसका वर्णन आगेकी गाथामें किया जायगा। इसप्रकार ग्रहणयोग्य वर्गणाएं अग्रहणयोग्य वर्गणाओंसे अन्तरित हैं। अर्थात् ग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद अग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद ग्रहणयोग्य वर्गणा आती है।

एमेव विउव्वाहार तेय भासा णुपाण-मण कम्मे।
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणगुलअसखसो ॥ ७६ ॥

अर्थ—औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणा की ही तरह वैक्रिय शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसशरीरके ग्रहण योग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषा प्रायोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, श्वासोच्छ्वास ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं। ये वर्गणाएं क्रमसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून न्यून अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—इससे पहली गाथामें औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा का और उसके अग्रहणयोग्य वर्गणाका स्वरूप बतला आये हैं। यहां उसके बादकी कुछ वर्गणाओंका निर्देश करके उनका स्वरूप भी पूर्व वर्गणाओंकी ही तरह बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

औदारिक शरीरके अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे एक अधिक परमाणु जिन स्कन्धोंमें पाये जाते हैं उन

---

१ पञ्चसंग्रह की निम्नगाथासे तुलना कीजिये—
ओरालविउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्जासओ खेत्ते ॥१५॥ (बन्धन करण)
आवश्यकनिर्युक्तिमें भी यह गाथा मौजूद है, गा० नं० ३९ है।

स्कन्धोंका समूहरूप वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंसे एक अधिक प्रदेश जिस जिस स्कन्धमें पाया जाता है उनका समूहरूप दूसरी वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहण-योग्य वर्गणा होती है। इसीप्रकार एक एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएँ वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसके अनन्तवभाग अधिक वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा-से एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह वैक्रियशरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती है, और आहारकशरीरकी अपेक्षासे कम प्रदेशवाली और स्थूल होती है। अतः वह न तो वैक्रियशरीर-के कामकी होती है और न आहारक शरीरके कामकी होती है, इसलिये उसे अग्रहणयोग्य वर्गणा कहते हैं। यह जघन्य वर्गणा है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएँ अग्रहणयोग्य हैं। अग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धों-की अग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशोंकी वृद्धि होनेपर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार ये अनन्तवर्गणाएँ आहारक शरीरकी अपेक्षासे बहुप्रदेशवाली और सूक्ष्म हैं, तथा तैजस शरीरकी अपेक्षासे अल्प प्रदेश-वाली और स्थूल हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा तैजस शरीरके प्रायोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते तैजसशरीरप्रायोग्य

जघन्य वर्गणाके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

तैजस शरीरके ग्रहण योग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणासे अनन्तगुण अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तैजस शरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती हैं और भाषाकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है वह भाषाग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी भाषाग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणाएं भाषाके ग्रहणयोग्य होती हैं।

भाषाके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धोंकी श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती

है। जघन्य वर्गणाके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढते जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धाकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है।

मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धाकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढते बढते जघन्यवर्गणाके स्कन्धके प्रदेशासे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धाकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशों-से एक प्रदेश अधिक स्कन्धाकी वर्गणा कर्मग्रहणके योग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढते बढते जघन्यवर्गणाके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी कर्मग्रहणके योग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। साराश यह है, कि सजातीय पुद्गल स्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। अत जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके एक स्कन्धम जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणाके एक स्कन्धमें होते हैं। और जघन्य ग्रहणयोग्य एक वर्गणाके स्कन्धम जितने परमाणु होते हैं, उनके अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धोंमें होते हैं।

इस प्रकार आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहण योग्य होती हैं। इन सोलह वर्गणाओमेंसे प्रत्येकके जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते हैं, और जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त अनन्त मध्यम विकल्प होते हैं। ग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तवें भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तगुणा होता है। ग्रहण योग्य वर्गणाएं आठ बतलाई हैं—औदारिकके ग्रहणयोग्य, वैक्रियके ग्रहण-योग्य, आहारकके ग्रहणयोग्य, तैजसके ग्रहणयोग्य, भाषाके ग्रहणयोग्य, श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य, मनके ग्रहणयोग्य और कर्मके ग्रहणयोग्य। मनुष्य और तिर्यञ्चाके स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं। जिन पुद्गलवर्गणाओ से यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ औदारिकके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं।

देव और नारकोंके शरीरको वैक्रिय कहते हैं। जिन वर्गणाओंसे यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ वैक्रियके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। जो शरीर चौदह पूर्वके पाठी मुनिके द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जो शरीर भुक्त अन्नके पाचनमें हेतु और दीप्तिका निमित्त हो उसे तैजस शरीर कहते हैं। बातचीतको भाषा कहते हैं। बाहरकी वायुको शरीरके अन्दर ले जाना और अन्दरकी वायु को बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। विचार करनेके साधनको मन कहते हैं। कर्मोंके पिण्डको कार्मणशरीर कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय अध्यायमें शरीरोंका वर्णन करते हुए उन्हें उत्तरोत्तर सूक्ष्म बतलाया है। अर्थात् औदारिकसे वैक्रिय सूक्ष्म होता है, वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण सूक्ष्म होता है। ये शरीर यद्यपि उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं तथापि उनके निर्माणमें अधिक अधिक परमाणुओंका उपयोग होता है। सारांश यह है कि जैसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर और लोहा अमुक परिमाणमें लेनेपर भी रुईसे लकड़ीका आकार छोटा होगा, लकड़ीसे मिट्टीका आकार छोटा होगा, मिट्टीसे पत्थरका और पत्थरसे लोहेका। किन्तु आकारमें छोटे होनेपर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती हैं, इसी तरह औदारिक वगैरह शरीरोंके बारेमें भी समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि औदारिक शरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है, वे रुईकी तरह अल्प परमाणुवाली किन्तु आकारमें स्थूल हैं, और वैक्रियशरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है वे लकड़ीकी तरह औदारिक योग्य वर्गणाओंसे अधिक परमाणुवाली किन्तु अल्प परिमाणवाली हैं। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। सारांश यह है कि आगे आगेकी वर्गणाओंमें परमाणुओंकी संख्या बढ़ती जाती है, किन्तु उनका आकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता जाता है। इसीसे ग्रन्थकारने उक्त गाथाके उत्तरार्धमें लिखा है कि ये वर्ग-

१ 'परं परं सूक्ष्मम्।' २-३८ ॥

णाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी अवगाहना अर्थात् लम्बाई चौ-ड़ाई वगैरह सामान्यसे अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, किन्तु वह अंगुलका असंख्यातवाँ भाग उत्तरोत्तर हीन हीन है। आशय यह है कि ज्यों ज्यों अधिक परिमाणुओंका संघात होता है त्यों त्यों उनका सूक्ष्म सूक्ष्मतर रूप परिणाम होता है। अतः औदारिकवर्गणाओंकी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, तथा उसकी अग्रहण वर्गणाओंकी भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु वह अंगुलका असंख्यातवाँ भाग पहलेसे न्यून है। इसी प्रकार वैक्रियग्रहणवर्गणाओंकी भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु वह असंख्यातवाँ भाग औदारिककी अग्रहण योग्य वर्गणाओंकी अवगाहनावाले अंगुलके असंख्यातवें भागसे भी न्यून है, इसी प्रकार आगे भी अंगुलका असंख्यातवाँ भाग न्यून न्यून समझना चाहिये। इस न्यूनताकी वजहसे ही अल्प परमाणुवाले औदारिक शरीरके दिखाई देनेपर भी उसके ही साथ बसनेवाले तैजस और कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणुवाले होने पर भी दिखाई नहीं देते।

तैजस और कार्मण शरीरके मध्यमें भाषा, श्वासोछ्वास और मन पड़े हुए हैं। अर्थात् तैजस शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणासे वे वर्गणा अधिक सूक्ष्म हैं जो हमारे बातचीत करते समय शब्दरूप परिणत होती हैं। और उनसे भी वे वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं, जो जीवके श्वासरूप परिणत होती हैं। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कर्मवर्गणाएँ कितनी अधिक सूक्ष्म होती हैं, किन्तु उनमें परमाणुओंकी संख्या कितनी अधिक रहती है। यहाँ इन वर्गणाओंके कथन करनेका यही उद्देश है कि जो चीज कर्मरूप परि-

---

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें औदारिकवर्गणा, वैक्रियवर्गणा और आहारकवर्गणाके स्थानमें केवल एक आहारवर्गणा ही बतलाई है। तथा श्वासोछ्वास वर्गणाका भी ग्रहण नहीं किया है। कर्मप्रकृतिमें भी ऐसा ही मिलता है। किन्तु यहाँ 'आहारगवग्गणातितणु' लिखकर तीनों शरीरोंका स्पष्ट

णत हाती है उसके स्वरूपकी रूपरेखा दृष्टिमें आजाय। इसासे यहां केवल १६ वर्गणाओंका ही स्वरूप बतलाया है।

उल्लेख करदिया है। तथा मूलमें श्वासोछ्वासवर्गणाका ग्रहण नहीं किया है किन्तु चूर्णिकार ने उसका ग्रहण किया है। तुलनाके लिये दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं–

"अणुसखासखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खधा ॥ ५९३ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो महक्खधा ॥ ५९४ ॥"
जीवकाण्ड

"परमाणुसखऽसखाऽणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो आहारगवग्गणा तितणू ॥ १८ ॥
अगहणंतरियाओ तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअचित्ता सुन्नाचउअंतरेसुप्पिं ॥ १९ ॥
पत्तेयगतणुसु बायरसुहुमनिगोए तहा महक्खंधे।
गुणनिप्फन्नसनामा असखभागंगुलवगाहो ॥ २० ॥"
कर्मप्रकृति (बंधनकरण)

१ पञ्चसंग्रहमें वर्गणाओंका निरूपण कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है। वहां १६ वर्गणाओंसे आगेकी वर्गणाओंको इसप्रकार बतलाया है–

कम्मोवरिं धुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णबायरिया।
सुण्णा सुहुमा सुण्णा महक्खंधो सगुणनामाओ ॥१६॥ बन्धनकरण

अर्थात्–'कर्मवर्गणासे ऊपर ध्रुववर्गणा, अध्रुववर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येक शरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा होती हैं। कर्मप्रकृति और जीवकाण्डमें भी मामूलीसे नाम भेदके साथ यही वर्गणाएं कही हैं।

वर्गणाओंका स्वरूप तथा उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाकर, अब अग्रहण वर्गणाओंके परिमाणका कथन करते हैं—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

अर्थ—उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ होती हैं । उनका परिमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है । और वे औदारिक वैक्रिय आदि वर्गणाओंके मध्यमें पाई जाती हैं । औदारिक आदि सभी वर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने योग्य जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक होता है ।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इससे पूर्वकी गाथामें ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके नाम और उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाया था । तथा, यह भी लिखा था कि ग्रहण योग्य वर्गणाएँ अग्रहण वर्गणाओंसे अन्तरित होती हैं । यहाँ अग्रहण वर्गणाओंका प्रमाण तथा ग्रहण वर्गणाओंके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंका अन्तर बतलाया है । वर्गणाओंका स्वरूप बतलाते हुए यद्यपि इन सभी बातोंका खुलासा कर दिया गया है, तथापि प्रसङ्गवश यहाँ संक्षेपसे उन्हें पुनः कहते हैं—

पहले लिख आये हैं कि सजातीय पुद्गलस्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणाके प्रत्येक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उनसे एक अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहको अग्रहण योग्य जघन्य-वर्गणा जानना चाहिये, दो अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहको अग्रहण योग्य दूसरी वर्गणा जानना चाहिये, तीन अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहको अग्रहणयोग्य तीसरी वर्गणा जानना चाहिये । इस प्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते स्कन्धोंकी चौथी पाँचवी आदि अग्रहण योग्य वर्गणाएँ जाननी चाहियें । अग्रहण योग्य जघन्यवर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु

हा, उनका सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अत प्रत्येक अग्रहण योग्य वर्गणाकी संख्या सिद्धराशिके अनन्तवें भाग बतलाई है, क्योंकि जघन्य अग्रहण वर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उन्हें सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जितने परमाणु आते हैं, जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त वर्गणाके उतने ही विकल्प होते हैं।

ये अग्रहण वर्गणाएँ ग्रहण वर्गणाओंके मध्यमें होती हैं, अर्थात् अग्रहण वर्गणा, औदारिकवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, वैक्रियवर्गणा इत्यादि। ऊपर जो अग्रहणवर्गणाके अनन्त भेद बतलाये हैं, वे प्रत्येक अग्रहणवर्गणाके जानने चाहिये। अर्थात् यह न समझ लेना चाहिये कि कुल अग्रहणवर्गणाएँ सिद्धराशिके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और उनमें कुछ वर्गणाएँ औदारिक वर्गणासे पहले होती हैं, कुछ उसके बाद होती हैं, कुछ वैक्रियवर्गणाके बाद होती हैं। किन्तु ग्रहणवर्गणाओंके अन्तरालमें जो आठ अग्रहणवर्गणाएँ बतलाई हैं उनमेसे प्रत्येकके भेदोंका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है।

जैसे, अग्रहण वर्गणाओंकी उत्कृष्ट अपनी अपनी जघन्यसे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है, उसी तरह ग्रहणवर्गणाओंकी उत्कृष्ट अपने अपने जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक है। अर्थात् जघन्य ग्रहण योग्य स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहण योग्य स्कन्धमें होते हैं।

सारांश यह है कि पहले पहलेकी उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धोंमें एक एक प्रदेश बढ़नेपर आगे आगेकी जघन्यवर्गणाका प्रमाण आता है। अग्राह्य वर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है। तथा ग्राह्यवर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे अनन्तवें

१ टबेमें लिखा है कि बृहत्शतककी चूर्णिमें अग्रहणवर्गणाओंको नहीं बतलाया है।

भाग अधिक है ।

अब जीव जिस प्रकारके कर्मस्कन्धको ग्रहण करता है उसे बतलाते हैं—

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिउ ।

अर्थ—अन्तके चार स्पर्श, दो गन्ध, पाँच वर्ण और पाँच रस वाले, सब जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक, अनन्त प्रदेशी उन कर्मस्कन्धोंको जीव अपने सब प्रदेशोंसे ग्रहण करता है, जो (कर्मस्कन्ध) उन्हीं आकाशके प्रदेशोंमें वर्तमान हैं, जिनमें जीव स्वयं वर्तमान है ।

भावार्थ—(कर्मस्कन्धोंके समूहको कर्मवर्गणा कहते हैं ।) अतः कर्मवर्गणा-का स्वरूप बतला कर ग्रन्थकारने कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाया है । उक्त डेढ़ गाथामेंसे पूरी गाथा तो कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाती है और बादकी आधी गाथा दो प्रश्नोंका उत्तर देती है १—किस क्षेत्रमें रहनेवाले कर्मस्कन्धोंको जीव ग्रहण करता है और २—किसके द्वारा ग्रहण करता है ?

वर्गणाओंका निरूपण करते हुए यह बतला आये हैं, कि ये वर्गणाएँ पौद्गलिक हैं । अर्थात् पुद्गल परमाणुओंका ही समुदाय विशेष हैं । अतः कर्म वर्गणाएँ भी पौद्गलिक ही जाननी चाहियें । हम अपनी आँखोंसे जो वस्तुएँ देखते हैं, जिह्वासे जिन वस्तुओंको चखते हैं, नाकसे जिन वस्तुओं-को सूँघते हैं, शरीरसे जिन्हें छूते हैं और कानोंसे जो कुछ सुनते हैं वे सब और उनके उपादान कारण पौद्गलिक कहे जाते हैं । इसीसे पुद्गल[1] द्रव्य-का लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श बतलाया है । अर्थात् जिसमें ये चारों गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं । कर्मवर्गणा कर्मस्कन्धोंके समूहका नाम है और कर्मस्कन्ध पुद्गलपरमाणुओंके ही बन्धन विशेषको कहते हैं ।

---

१ "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।" ५, २३ तत्त्वार्थसूत्र ।

(जिस तरह पुद्गलद्रव्यके सबसे छोटे अंशको परमाणु कहते हैं,) (उसी तरह शक्तिके सबसे छोटे अंशको रसाणु कहते हैं।) यहां रसका मतलब खट्टे मीठे आदि पांच प्रकारके रससे नहीं है किन्तु अनुभाग बंध अथवा रसबंधका वर्णन करते हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलमें जो मधुर और कटुक ऐसा व्यवहार किया था, उस रससे है। यह रस प्रत्येक पुद्गल में पाया जाता है। जैसे पुद्गलद्रव्यके स्कन्धोंके टुकड़े किये जा सकते हैं, वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणोंके टुकड़े नहीं किये जा सकते। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओंमें गुणों की हीनाधिकताको सहज में ही जानलेते हैं। जैसे, यदि हमारे सामने भैंस, गाय और बकरीका दूध रखा जाय तो हम उसकी परीक्षा करके तुरंत कह देते हैं कि इस दूधमें चिकनाई अधिक है और इसमें कम है। चिकनाईके टुकड़े नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह एक गुण है। किन्तु, विभिन्न वस्तुओंके द्वारा हम उसकी तरतमता को जान सकते हैं। यह तरतमता ही इस बातको बतलाती है कि गुणके भी अंश होते हैं। आजकलके वैज्ञानिक यह खोजा करते हैं कि किस भोज्य वस्तुमें अधिक जीवनदायक शक्ति है और किसमें कम। उनकी ये खोजें कभी कभी समाचारपत्रों में भी पढ़ने को मिलजाती हैं। उनकी तालिकामें लिखा रहता है कि बादाममें प्रतिशत इतनी जीवनी शक्ति

बतलाते हुए लिखा है–

'बादरमष्टस्पर्श द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम्।
अगुरुलघु चतुःस्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्तमपि ॥ २४ ॥'

अर्थात्–'आठ स्पर्शवाला बादररूपी द्रव्य गुरुलघु होता है, और चार स्पर्शवाला सूक्ष्मरूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते हैं।' इसके अनुसार तैजस वर्गणामें आठों स्पर्श सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसे गुरुलघु बतलाया है। किन्तु कर्मवर्गणामें चार स्पर्श होते हैं इसमें सभीका ऐकमत्य है। दिगम्बर ग्रंथोंमें भी कर्मयोग्य द्रव्यको चार स्पर्शवाला ही बतलाया है।

है, दूधमें इतनी है इत्यादि। विभिन्न मात्रा में यह जो चीकनी शक्ति अमुक अमुक अंशमें मौजूद है, यह सिद्ध करती है कि शक्तिके भी अंश हो सकते हैं। इन्हें ही रसके अंश भी कहते हैं, क्यों कि रस शब्दसे भी भी फलदायक शक्ति ही इष्ट है। (ये रस के अंश ही रसाणु कहे जाते हैं।) सबसे जघन्य रसवाले पुद्गलद्रव्यमें भी जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते हैं। अतः कर्मस्कन्ध भी सब जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणुओंसे युक्त होता है। ये रसाणु ही जीवको मात्रा का निमित्त पाकर कटुक रूप अथवा मधुर रूप फल देते हैं। तथा, एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है अर्थात् एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त परमाणुओंका समूह होता है, जैसा कि वर्गणाओंके निरूपणसे स्पष्ट है। इस प्रकार जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य कर्मस्कन्धों का स्वरूप जानना चाहिये।

---

१ रसाणुको गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं, जैसा कि पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है–

"पञ्चण्ह सरीराण परमाणूण मईए अविभागो।
कप्पियगाणेगसो गुणाणु भावाणु वा होंति ॥ ४१७ ॥"

अर्थात्–पाच शरीरोंके योग्य परमाणुओंकी रस शक्तिका बुद्धिके द्वारा खण्ड करनेपर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं। और भी–

'जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोगपरिमाणा।
सव्वजियाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू ॥ ४३६ ॥"

अर्थात्–अनुभागके कारण जीवके कषायोदय रूप परिणाम दो तरहके होते हैं–एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोक आकाशके प्रदेशोंके बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं। एक एक परिणामके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलोंमें सर्वजीवोंसे अनन्तगुने भावाणु होते हैं।

प्रदेशबन्धद्वारके प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि समस्त लोक पुद्गल द्रव्यसे ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। जब पुद्गलद्रव्य वर्गणाओंमें विभाजित है और सब जगह पाया जाता है, तो इसका यही मतलब हुआ कि पुद्गलद्रव्य की उक्त वर्गणाएँ समस्तलोकमें पाई जाती हैं। उक्त वर्गणाओंमें ही कर्मवर्गणा भी है अतः कर्मवर्गणा भी सब जगह पाई जाती है। किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है, जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं। जैसे आगमें तपाये हुए लोहेके गोले को पानीमें डाल देने पर वह उसी जलको

१ कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए लिखा है–

'एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।

बंधदि सगहेदूहि य अणादियं सादियं उभयं ॥ १८५ ॥'

अर्थात्–एक अभिन्न क्षेत्रमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य अनादि, सादि और उभयरूप अर्थात् अनादि सादिरूप द्रव्यको यह जीव अपने सब प्रदेशोंसे कारण कलापके मिलनेपर बांधता है। और भी–

'सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं ।

सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥ १९१ ॥'

अर्थात्–जीव जिस कर्मरूप पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है उसमें पांचों रस, पांचों रूप, दोनों गन्ध और अन्तके चार स्पर्श होते हैं। तथा, उसका परिमाण सिद्धराशिका अनन्तवाँ भाग अथवा अभव्यराशिसे अनन्तगुणा होता है।

पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है–

'एगपएसोगाढे सव्वपएसेहिं कम्मणो जोगे ।

जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥२८४॥'

अर्थात्–एक क्षेत्रमें स्थित, कर्मरूप होने के योग्य सादि अथवा अनादि पुद्गलद्रव्यको जीव अपने समस्त प्रदेशोंसे ग्रहण करता है।

ग्रहण करता है, जो उसके गिरनेके स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर का जल ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जीव भी जिन आकाश प्रदेशोंमें स्थित होता है, उन्हीं आकाश प्रदेशोंमें रहने वाली कर्मवर्गणाको ग्रहण करता है। तथा जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला जलमें गिरने पर चारों ओरसे पानीको खींचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्म प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि आत्माके अमुक हिस्सेसे ही कर्मोंको ग्रहण करता हो, किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार वे कर्मस्कन्ध कैसे हैं और जीव उन्हें कैसे ग्रहण करता है इन पर विचार किया गया।

इस प्रकार ग्रहणकिये हुए कर्मस्कन्धोंका आठों कर्मोंमें जिस क्रमसे विभाग होता है, उसे बतलाते हैं—

थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिउ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवई ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

अर्थ—आयुकर्मका हिस्सा थोड़ा है, नाम और गोत्रकर्मका हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु आयुकर्मके हिस्से से अधिक है। इसी तरह अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु नाम और गोत्रकर्मके हिस्सेसे अधिक है। उससे अधिक मोहनीयका

---

१ पञ्चसंग्रहमें लिखा है—

"कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्तं जओणप्पे ॥२८५॥"

अर्थात्—अधिक स्थितिवाले कर्मोंका भाग क्रमसे अधिक होता है। किन्तु वेदनीयका भाग सबसे ज्येष्ठ होता है, क्योंकि अल्पदल होनेपर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता।

भाग है। और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका भाग है, क्योंकि थोड़े द्रव्यके होने पर वेदनीयकर्मका अनुभव स्पष्टरीतिसे नहीं हो सकता है। वेदनीयके सिवाय शेष सातकर्मोंको अपनी अपनी स्थितिके अनुसार भाग मिलता है। अर्थात् जिस कर्मकी अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्मकी हीन स्थिति है उसे हीन भाग मिलता है।

भावार्थ–जिस प्रकार भोजन उदरमें जानेके बाद कालक्रमसे रस रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय जिन कर्म-वर्गणाओंको ग्रहण करता है, वे कर्मवर्गणाएँ उसी समय उतने हिस्सोंमें बट जाती हैं, जितने कर्मोंका बंध उस समय उस जीवके होता है। पहले लिख आये हैं कि आयुकर्मका बंध सर्वदा नहीं होता, और जब होता है तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता। अतः जिस समय जीव आयुकर्मका बंध करता है उस समय जो कर्मदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं। जिस समय आयुकर्मका बंध नहीं करता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उनका बटवारा आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंमें होजाता है। जब दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह कर्मोंका बंध करता है, उस समय गृहीत कर्म-दलके ६ भाग हो जाते हैं। और जिस समय एक कर्मका ही बंध करता है उस समय ग्रहण किये हुए कर्मदल उस एक कर्मरूप ही हो जाते हैं। यहां ग्रहण किये हुए कर्मदलका आठों कर्मोंमें विभाजित होनेका क्रम बतलाया है। आयुकर्मका भाग सबसे थोड़ा है, क्यों कि दूसरे कर्मोंसे उसकी स्थिति थोड़ी है। आयुकर्मसे नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मोंका भाग अधिक है, क्योंकि आयुकर्मकी स्थिति तेतीस सागर है और नाम तथा गोत्रकर्मकी स्थिति बीस कोटी कोटी सागर है। नाम और गोत्रकी स्थिति समान है, अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर बराबर ही मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी स्थिति तीस कोटी कोटी सागर है

अत नाम और गोत्रकर्मसे इन तीनों कर्मोंका भाग अधिक है । तथा इन तीनों कर्मों की स्थिति समान है, अत उनका भाग भी बराबर बराबर ही है । इन तीनों कर्मोंसे मोहनीयकर्मका भाग अधिक है क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर है । और वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक है । यद्यपि मोहनीय कर्मकी स्थितिसे वेदनीय कर्मकी स्थिति बहुत कम है, तथापि मोहनीयके भागसे वेदनीय कर्मका भाग अधिक है । क्योंकि बहुत द्रव्यके बिना वेदनीयकर्मके सुख दु खादिकका अनुभव स्पष्ट नहीं होता है । वेदनीयको अधिक पुद्गल मिलनेपर ही वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है । थोड़े दल होनेपर वेदनीय प्रकट ही नहीं होता । इसीसे थोड़ी स्थितिके होनेपर भी उसे सबसे अधिक भाग मिलता है ।

---

१ वेदनीयकर्मको सबसे अधिक भाग मिलनेके बारेमें कर्मकाण्डमें लिखा है–

'सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स ।
सव्वेहिंतो बहुग दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ १९३ ॥'

अर्थात्–सुख और दु खके निमित्तसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा बहुत होती है । अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दु खका वेदन करता रहता है, अत वेदनीय कर्मका उदय प्रतिक्षण होनेसे उसकी निर्जरा भी अधिक होती है । इसीसे उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है, ऐसा कहा है ।

२ कर्मग्रन्थमें केवल विभागका क्रम ही बतलाया है, और उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्मको अधिक भाग मिलता है और अमुकको कम भाग मिलता है । किन्तु कर्मकाण्डमें इस क्रमके साथ ही साथ विभागकी रीति भी बतलाई है, जो इस प्रकार है–

'बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५ ॥'

अर्थात्–बहुभागके समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन बहुभाग करना चाहिये, और वह बहु-

भाग बहुत हिस्सेवाले कर्मको देना चाहिये।

इस रीतिके अनुसार एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागसे भाग देकर एक भागको जुदा रखना चाहिये और बहुभागके आठ समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रखकर बहुभाग वेदनीय कर्मको देना चाहिये, क्योंकि सबसे अधिक भागका वही स्वामी है। शेष एक भागमें पुनः आवली के असंख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग मोह नीयकर्मको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके दो समान भाग करके, नाम और गोत्रकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग आयुकर्मको देना चाहिये। इस प्रकार पहले बटवारेमें और दूसरे बटवारेमें प्राप्त अपने अपने द्रव्यका सकलन करने से अपने अपने भागका परिमाण आता है। अर्थात् ग्रहण किये हुए द्रव्यमें से इतने इतने परमाणु उस उस कर्मरूप हो जाते हैं।

अङ्कसदृष्टिसे इसे समझनेके लिये कल्पना कीजिये-कि एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है उसका परिमाण २५६०० है, और आवलीके असंख्यातवें भागका प्रमाण ४ है। अतः २५६०० को ४ से भाग देनेपर लब्ध ६४०० आता है। यह एक भाग है। इस एक भागको २५६०० में से घटानेपर १९२०० बहुभाग आता है। इस बहुभागके आठ समान भाग करनेपर एक एक भागका प्रमाण २४००, २४०० होता है। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्सेमें २४००, २४०० द्रव्य आता है। शेष एक भाग ६४०० को

मूल प्रकृतियोंमें विभागका क्रम बतलाकर, अब उत्तर प्रकृतियोंमें उसका क्रम बतलाते हैं—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं।
बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

---

४ से भाग देनेपर लब्ध १६०० आता है। इस सोलह सौको ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग आता है। यह बहुभाग वेदनीयकर्मका है। शेष १६०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध ४०० आता है। १६०० में से ४०० को घटानेपर बहुभाग १२०० आता है। यह बहुभाग मोहनीयकर्मका है। शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध १०० आता है। ४०० में से १०० को घटानेपर बहुभाग ३०० आता है। बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायको १०० १०० दे देना चाहिये। शेष १०० में ४ का भाग देनेसे लब्ध २५ आता है। १०० में से २५ को घटानेपर बहुभाग ७५ आता है। यह बहुभाग नाम और गोत्रकर्मका है। शेष एक भाग २५ आयुकर्मको दे देना चाहिये। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००	३७½	३७½	२५
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००	२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० में इतना इतना द्रव्य उस उस कर्मरूप परिणत होता है। यह अङ्कसदृष्टि केवल विभागकी रूपरेखा समझानेके लिये है। इसे वास्तविक न समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऐसा न समझ लेना चाहिये कि जैसे इसमें वेदनीयका द्रव्य मोहनीयसे ठीक दुगुना है, वैसे ही वास्तवमें भी दुगुना ही द्रव्य होता है। आदि

अर्थ—अपनी अपनी मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघातिप्रकृतियोंका होता है। शेष भाग प्रति समय बंधनेवाली शेष देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है।

भावार्थ—मूल प्रकृतियोंको जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है, क्योंकि उत्तर प्रकृतियोंके सिवाय मूलप्रकृति नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिस प्रकार गृहीत पुद्गलद्रव्य उन्हीं कर्मोंमें विभाजित होता है, जिन कर्मोंका उस समय बन्ध होता है। उसी तरह प्रत्येक मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है वह भाग भी उसकी उन्हीं उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होता है, जिनका उस समय बन्ध होता है। जो प्रकृतियां उस समय नहीं बंधती, उनको उस समय भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि भाग मिलनेका नाम ही तो बन्ध है, और भाग न मिलनेका नाम ही अबन्ध है।

पहले बतला आये हैं कि आठकर्मोंमें से चार कर्म घाती हैं और चार कर्म अघाती हैं। घातिकर्मोंकी कुछ उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघातिनी होती हैं और कुछ देशघातिनी होती हैं। इस गाथामें उन्हींको लक्ष्यकरके लिखा है

---

१ ज समय जावइयाइं बंधए ताण एरिस विहीए।
पत्तेय पत्तेय भागे निव्वत्तए जीवो ॥ २८६ ॥' पञ्चस०।

२ उत्तर प्रकृतियोंमें पुद्गल दलिकोंका बटवारा करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

'ज सव्वघाविपत्त सगकम्मपएसणतमो भागो।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पचहा विग्घ ॥२५॥ बन्धनकरण।

अर्थात्—जो कर्मदलिक सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है वह अपनी अपनी मूल प्रकृतिको जो भाग मिलता है उसका अनन्तवां भाग होता है। शेष द्रव्यका बटवारा देशघातिप्रकृतियोंमें हो जाता है। अत ज्ञानावरणका शेष द्रव्य चार भागोंमें विभाजित होकर उसकी चार देशघातिप्रकृतियोंको

कि घातिकर्मका जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघातिप्रकृतियोंको होता है और शेष बहुभाग बंधनेवाली देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं। उनमेंसे एक केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वघातिनी है और शेष चार देशघातिनी हैं। जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणरूप परिणत होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है अतः वह केवलज्ञानावरणको मिलता है। और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाति प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है। दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियां नौ हैं। उनमें केवल दर्शनावरण और पाँचों निद्राएँ सर्वघातिनी हैं और शेष तीन प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। दर्शनावरणरूप जो द्रव्य परिणत होता है उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है, अतः वह छह सर्वघातिप्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिप्रकृतियोंमें बट जाता है। वेदनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं, किन्तु उनमसे प्रतिसमय एक ही

मिल जाता है, और दर्शनावरणका शेष द्रव्य तीन भागोंमें विभाजित होकर उसकी तीन देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है। किन्तु अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है, वह पूराका पूरा पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाँचों देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है, क्योंकि अन्तरायकी कोई भी प्रकृति सर्वघातिनी नहीं है।

सर्वघाती और देशघाती द्रव्यके बटवारेके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें भी ऐसा ही लिखा है—

'सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईण ॥ ४३४ ॥'

अर्थात्–मूलप्रकृतिको मिले हुए भागका अनन्तवां भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रसवाला द्रव्य है, वह सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है, और शेष अनुत्कृष्ट रसवाला द्रव्य देशघातिप्रकृतियोंको दिया जाता है।

प्रकृतिका बंध होता है। अत वेदनीयकर्मको जो द्रव्य मिलता है वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

मोहनीयकर्मको जो भाग मिलता है, उसमें अनन्तवां भाग सर्वघाती

---

१ मोहनीयकर्मके द्रव्यका बटवारा बतलाते हुए पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

'उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छे अद्धं तु इयरघाईण ।

संजलण नोकसाया सेस अद्धद्धयं लेंति ॥ ४३५ ॥

अर्थात्–मोहनीयकर्मके सर्वघाती द्रव्यका आधा भाग मिथ्यात्वको मिलता है और आधा भाग बारह कषायोंको मिलता है। शेष देशघातिद्रव्यका आधा भाग संज्वलन कषायको और आधा भाग नोकषायको मिलता है।

मोहनीय वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मके द्रव्यका बटवारा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है–

'मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि बज्झमाणीण ।

वेयणिआउयगोएसु बज्झमाणीण भागो सिं ॥२६॥' बन्धनकरण।

अर्थात्–स्थितिके प्रतिभागके अनुसार मोहनीयको जो मूल भाग मिलता है उसका अनन्तवें भाग सर्वघातिद्रव्यके दो भाग किये जाते हैं। आधा भाग दर्शनमोहनीयको मिलता है और आधा भाग चारित्रमोहनीयको मिलता है। शेष मूलभागके भी दो भाग किये जाते हैं आधा भाग कषायमोहनीयको मिलता है, और आधा भाग नोकषायमोहनीयको मिलता है। कषाय मोहनीयको जो भाग मिलता है, उसके पुन चार भाग किये जाते हैं और वे चारों भाग संज्वलन क्रोध, मान माया और लोभको दिये जाते हैं। नोकषाय मोहनीय के भागके पांच भाग किये जाते हैं और वे पाँचों भाग तीनों वेदोंमें से किसी एक वेदको, हास्य रति और शोक अरतिके युगलों से एक युगलको भयको और जुगुप्साको दिये जाते हैं, क्योंकि एक समयमें पाँच ही नोकषायोंका बन्ध होता है। तथा, वेदनीय आयु और गोत्रकर्मको जो मूल भाग मिलता

द्रव्य होता है और शेष देशघाती द्रव्य होता है। सर्वघाती द्रव्यके दो भाग होजाते हैं। एक भाग दर्शनमोहनीयको मिल जाता है और दूसरा भाग चारित्र मोहनीयको मिलजाता है। दर्शनमोहनीयका पूरा भाग उसकी उत्तरप्रकृति मिथ्यात्वमोहनीयको मिल जाता है। किन्तु चारित्र मोहनीय-के भागके बारह हिस्से होकर अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंमें बट जाते हैं। मोहनीयकर्मके देशघातिद्रव्यके दो भाग होते हैं। उनमेंसे एक भाग कषायमोहनीयका होता है और दूसरा नोकषायमोहनीयका। कषाय-मोहनीयके भागके चार भाग होकर सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते हैं। और नोकषाय मोहनीयके पाँच भाग होते हैं, जो क्रमशः तीनो वेदोमसे किसी एक बध्यमान वेदको, हास्य और रतिके युगल तथा शोक और अरतिके युगलमेंसे किसी एक युगलको (युगलमेंसे प्रत्येक को एक एक भाग) तथा भय और जुगुप्साको मिलते हैं। आयुकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बधती है। अत आयुकर्मको जो भाग मिलता है, वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है, जो उस समय बधती है।

नामकर्मको जो मूलभाग मिलता है, वह उसकी बधनेवाली उत्तर प्रकृ-

है, वह उनकी बन्धन वाली एक एक प्रकृतिको ही मिल जाता है क्योंकि इन कर्मोंकी एक समयमें एक ही प्रकृति बधती है।

१ नामकर्मके बटवारेके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है–

पिंडपगतीसु वज्झतिगाण वन्नरसगधफासाण।

सव्वासि सघाए तणुम्मि य तिग चउक्क वा ॥२१॥' बन्धनकरण।

अर्थात्–नामकर्म को जो भाग मिलता है वह उसकी बधनेवाली प्रकृतियोंका होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जो भाग मिलता है वह उनकी सब अवान्तर प्रकृतियोंका होता है। सघात और शरीरको जो भाग मिलता है, वह तीन या चार भागोंमें बटजाता है।

तियोंमें बट जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपाङ्ग, बन्धन, सङ्घातन, संहनन, संस्थान, आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थङ्कर, आतप, शुभाशुभ विहायोगति, और

१ कर्मकाण्डमें गाथा १९९ से २०६ तक उत्तरप्रकृतियोंमें पुद्गलद्रव्यके बटवारेका वर्णन किया है। कर्मकाण्डके अनुसार घातिकर्मोंको जो भाग मिलता है उसमेंसे अनन्तवाँ भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य होता है, जैसा कि कर्मग्रन्थका भी आशय है। किन्तु कर्मकाण्डके मतसे सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है। जैसा कि उसमें लिखा है—

सव्वावरणं दव्वं विभज्जणिज्जं तु उभयपयडीसु।

देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे ॥

अर्थात्–सर्वघाती द्रव्यका विभाग दोनों तरहकी प्रकृतियोंमें करना चाहिये। किन्तु देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातिप्रकृतियोंमें ही करना चाहिये। कर्मकाण्डके अनुसार प्रत्येक कर्मके विभागकी रीति निम्नप्रकार है–ज्ञानावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभागके पाँच समान भाग करके पाँचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभाग मतिज्ञानावरणको शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरणको, इसी तरह चौथा बहुभाग मनःपर्ययज्ञानावरणको और शेष एक भाग केवलज्ञानावरणको देना चाहिये। पहिलेके समान भागमें अपने अपने बहुभागको मिलानेसे मतिज्ञानावरण वगैरहका सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भागके सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरणके सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियोंको

त्रसदशक अथवा स्थावरदशकमें से जितनी प्रकृतियां एक समयमें बंधको प्राप्त होती हैं, उतने भागोंमें वह भाग बंट जाता है। विशेषता यह है कि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदोंमें बंट जाता है। जैसे, वर्णनामको जो भाग मिलता है वह पांच भागोंमें विभाजित होकर उसके शुक्लादिक भेदोंमें बंट जाता है।

मिलता है। विभागकी रीति ऊपरके अनुसार ही है। अर्थात् देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिये और वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिको नम्बरवार देना चाहिये। अपने अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्यको मिलानेसे अपने अपने सर्वद्रव्यका परिमाण होता है।

दर्शनावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके नौ भाग करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देदेकर बहुभाग निकालना चाहिये और पहला बहुभाग स्त्यानगृद्धिको, दूसरा निद्रानिद्राको, तीसरा प्रचला प्रचलाको, चौथा निद्राको, पाँचवा प्रचलाको, छठा चक्षुदर्शनावरणको, सातवां अचक्षुदर्शनावरणको, आठवां अवधिदर्शनावरणको, और शेष एक भाग केवलदर्शनावरणको देना चाहिये। इसी प्रकार देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके देशघाती चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें भी भाग देदेकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरणको दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरणको और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरणको देना चाहिये। अपने अपने भागोंका सकलन करनेसे

इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्श नामको जो भाग मिलता है, वह उनके भेदोंमें विभाजित होजाता है । तथा, संघात और शरीर नामकर्मको जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागोंमें विभाजित होकर संघात और शरीरनामकी तीन या चार प्रकृतियोंको मिल जाता है । यदि औदारिक, तैजस और कार्मण या वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन तीन शरीरों और

अपने अपने द्रव्यका प्रमाण होता है । चक्षु अचक्षु और अवधि दर्शनाव रणका द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी । शेष छह प्रकृतियोंका द्रव्य सर्वघाती ही होता है क्योंकि वे सर्वघातिप्रकृतियाँ हैं ।

अन्तरायकर्मके—द्रव्यमें उक्त प्रतिभागका भाग देकर एक भागके बिना, शेष बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये । अवशेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग वीर्यान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तरायको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भाग दानान्तरायको देना चाहिये । अपने अपने समान भागमें अपना अपना बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

मोहनीयकर्मके—सर्वघाती द्रव्यको प्रतिभाग आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके सत्रह समान भाग करके सत्रह प्रकृतियोंको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्वको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभको देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी मायाको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहता जाय उसको प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी क्रोधको अनन्तानुबन्धी मानको संज्वलन

संघातका एक साथ बंध होता है तो उसके तीन भाग होजाते हैं । और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघातका बंध होता है तो चार विभाग होजाते हैं । तथा, बन्धन नामको जो भाग मिलता है, उसके यदि तीन शरीरोंका बंध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार

लोभको, सञ्ज्वलन मायाको, सञ्ज्वलन क्रोधको, सञ्ज्वलन मानको, प्रत्याख्यानावरण लोभको, प्रत्याख्यानावरण मायाको, प्रत्याख्यानावरण क्रोधको, प्रत्याख्यानावरण मानको, अप्रत्याख्यानावरण लोभको अप्रत्याख्यानावरण मायाको, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मानको देना चाहिये । अपने अपने एक एक भागमें पीछेके अपने अपने बहुभागको मिलानेसे अपना अपना सर्वघाती द्रव्य होता है ।

देशघाती द्रव्यको आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भाग को जुदा रख, बहुभागका आधा तो नोकषायको देना चाहिये, और बहु भागका आधा और शेष एक भाग सञ्ज्वलन कषायको देना चाहिये । सञ्ज्वलनकषायके देशघाती द्रव्यमें प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों कषायोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सञ्ज्वलन लोभको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सञ्ज्वलन मायाको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सञ्ज्वलनक्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग सञ्ज्वलनमान को देना चाहिये । पहलेके अपने अपने एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलाने से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है । चारों सञ्ज्वलन कषायोंका अपना अपना सर्वघाती और देशघाती द्रव्य मिलानेसे अपना अपना सर्वद्रव्य होता है । मिथ्यात्व और बारह कषायका सब द्रव्य सर्वघाती ही है, और नोकषायका सब द्रव्य देशघाती ही है । नोकषायका विभाग इस प्रकार होता

शरीरोंका बन्ध होता ग्यारह भाग होते हैं। अर्थात् औदारिक औदारिक, औदारिक तैजस, औदारिक कार्मण, औदारिक तैजसकार्मण, तैजस तैजस, तैजस कार्मण और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं, अथवा वैक्रिय वैक्रिय, वैक्रिय तैजस, वैक्रिय कार्मण, वैक्रिय

है-नोकषायके द्रव्यको प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग, तीनों वेदोंमें से जिस वेदका बन्ध हो उस देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग रति और अरतिमेंसे जिसका बन्ध हो, उस देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग हास्य और शोकमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग भयको देना चाहिये। शेष एक भाग जुगुप्साको देना चाहिये। अपने अपने एक एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है।

नामकर्मकी—तिर्यञ्चगति एकेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण ये तीन शरीर, हुंडक संस्थान, वर्ण गन्ध, रस स्पर्श तिर्यञ्चानुपूर्वी अगुरुलघु उपघात स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग अनादेय अयश कीर्ति और निर्माण इन तेईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मनुष्य अथवा तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्मको जो द्रव्य मिला हो, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक एक प्रकृतिको एक एक भाग देना चाहिये। ऊपर लिखी तेईस प्रकृतियोंमें औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों प्रकृतियां एक शरीरनाम पिंडप्रकृतिके ही अवान्तर भेद हैं। अतः उनको पृथक् पृथक् द्रव्य न मिल कर एक शरीर नामको ही हिस्सा मिलता है। इससे इक्कीस ही भाग किये हैं। अस्तु,

तैजस कार्मण, तैजस तैजस, तैजसकार्मण, और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं। और वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क तथा तैजस और कार्मणके तीन, इस प्रकार ग्यारह बन्धनोंका बन्ध

शेष एक भागमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अन्तकी निर्माण प्रकृतिको देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अयश कीर्तिको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुन प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनादेयको देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे दे कर बहुभाग दुर्भग, अशुभ वगैरहको देना चाहिये। अन्तमें जो एक भाग रहे, वह तिर्यग्गतिको देना चाहिये।

पहलेके अपने अपने समान भागमें पीछेका भाग मिलनेसे अपना अपना द्रव्य होता है। जहां पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस या इकतीस प्रकृतिका एक साथ बन्ध होता है, वहां भी इसी प्रकार बटवारेका क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहां केवल एक यश कीर्तिका ही बन्ध होता है वहां नामकर्मका सब द्रव्य इस एक प्रकृतिको ही मिलता है। नामकर्मके उक्त बन्धस्थानोंमें जो पिण्ड प्रकृतियां है, उनके द्रव्यका बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है। जैसे, ऊपरके बन्धस्थानमें शरीरनाम पिण्ड प्रकृतिके तीन भेद हैं, अत बटवारेमें शरीरनामको जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभागके तीन समान भाग करके, तीनोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग कार्मण शरीरको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग तैजसको देना चाहिये। शेष एक भाग औदारिकको देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिण्ड प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये। जहां पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियोंमेंसे एकही प्रकृतिका बन्ध होता हो, वहां पिण्डप्रकृतिका सब द्रव्य उस एकही प्रकृतिको देना चाहिये।

करनेपर ग्यारह भाग होते हैं। इनके सिवाय नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंम कोई अवान्तर विभाग नहीं होता, जो भाग मिलता है वह पूरा उसनेवाली उस एक प्रकृतिको ही मिलजाता है। क्योंकि अन्यप्रकृतियां आपसमें विरोधिनी हैं, एकका बन्ध होनेपर दूसरीका बन्ध नहीं होता। जैसे, एक गतिका बन्ध होनेपर दूसरी गतिका बन्ध नहीं होता। इसी तरह जाति, संस्थान

पाठक देखेंगे कि नामकर्मके बटवारेमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक द्रव्य प्रकृतियोंको दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्रमसे हीन हीन द्रव्य बांटा जाता है, किन्तु अन्तराय और नामकर्मकी प्रकृतियोंमें क्रमसे अधिक अधिक द्रव्य बांटा जाता है। वेदनीय आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बंधती है। अतः मूलप्रकृतिको जो द्रव्य मिलता है, वह उस एकही प्रकृतिको मिलजाता है। इस प्रकार कर्मकाण्डके अनुसार पुद्गलद्रव्यका बटवारा जानना चाहिये।

कर्मप्रकृति (प्रदेशबन्ध गा० २८) में दलिकोंके विभागका पूरा पूरा विवरण तो नहीं दिया किन्तु उत्तर प्रकृतियोंमें कर्मदलिकके विभागकी हीनाधिकता बतलाई है। अर्थात् यह बतलाया है कि किस प्रकृतिको अधिक भाग मिलता है और किसको कम भाग मिलता है। उससे यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है। अतः कर्मकाण्डके मन्तव्यके साथ कर्मप्रकृतिके मतव्य की तुलना कर सकनेके लिये उसे हम यहां देते हैं—

ज्ञानावरण—१-केवलज्ञानावरणका भाग सबसे कम, २-मनःपर्ययज्ञानावरणका उससे अनन्तगुणा, ३-अवधिज्ञानावरणका मनःपर्ययसे अधिक, ४-श्रुतज्ञानावरणका उससे अधिक, और ५-मतिज्ञानावरणका उससे अधिक भाग है।

दर्शनावरण—१-प्रचलाका सबसे कम, २-निद्राका उससे अधिक, ३-प्रचलाप्रचलाका उससे अधिक, ४-निद्रानिद्राका उससे अधिक ५-स्त्यान

और संहनन भी एक समयमें एक ही बंधता है। तथा त्रसादिक दसका बंधहोनेपर स्थावरादिक दसका बंध नहीं होता।

गोत्रकर्मको जो भाग मिलता है वह सबका सब उसकी बंधनेवाली एक प्रकृतिको ही होता है, क्योंकि गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही प्रकृति बंधती

द्रिका उससे अधिक, ६-केवलदर्शनावरणका उससे अधिक ७-अवधिदर्शनावरणका उससे अनन्तगुणा, ८-अचक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक और ९-चक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक भाग होता है।

वेदनीय—असातवेदनीयका सबसे कम और सातवेदनीयका उससे अधिक द्रव्य होता है।

मोहनीय—१-अप्रत्याख्यानावरण मानका सबसे कम, २-अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उससे अधिक, ३-अप्रत्याख्यानावरण मायाका उससे अधिक, और ४-अप्रत्याख्यानावरण लोभका उससे अधिक भाग है। उससे इसी तरह ८-प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका उत्तरोत्तर भाग अधिक है। उससे इसी तरह १२-अनन्तानुबन्धी चतुष्कका भाग उत्तरोत्तर अधिक है। उससे १३-मिथ्यात्वका भाग अधिक है। मिथ्यात्वसे १४-जुगुप्साका भाग अनन्तगुणा है। उससे १५-भयका भाग अधिक है। १७-हास्य और शोकका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर १९-रति और अरतिका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २१-स्त्री और नपुंसक वेदका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २२-संज्वलन क्रोधका उससे अधिक, २३-संज्वलन मानका उससे अधिक, २४-पुरुषवेदका उससे अधिक, २५-संज्वलन मायाका उससे अधिक और २६-संज्वलन लोभका उससे असंख्यात गुणा भाग है।

आयुकर्म—चारों प्रकृतियोंका समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बंधती है।

नाम—गतिनामकर्ममें-२-देव गति और नरक गतिका सबसे कम,

है। अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है वह पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाचो उत्तरप्रकृतियोंको मिलता है, क्योंकि ध्रुवबधी होनेके कारण ये पाचों प्रकृतिया सदा बधती हैं।

किन्तु परस्परमें बराबर ३-मनुष्यगतिका उससे अधिक, और ४-तिर्यञ्चगति का उससे अधिक भाग है।

जातिनामकर्ममें—४-द्वीन्द्रिय आदि चारों जातियोंका सबसे कम, किन्तु आपसमें बराबर और ५-एकेन्द्रिय जातिका उससे अधिक भाग है।

शरीर नामकर्ममें—१-आहारकका सबसे कम, २-वैक्रियशरीरका उससे अधिक ३-औदारिकशरीरका उससे अधिक, ४-तैजसशरीरका उससे अधिक और ५-कार्मणशरीरका उससे अधिक भाग है।

इसी तरह पांचो सघातों का भी समझना चाहिये।

अङ्गोपाङ्गनामकर्ममें—१-आहारक अङ्गोपाङ्गका सबसे कम २-वैक्रियका उससे अधिक, और ३-औदारिकका उससे अधिक भाग है।

बन्धनमें—१-आहारकआहारकबन्धनका सबसे कम, २-आहारक तैजसबन्धन का उससे अधिक, ३-आहारककार्मण बन्धनका उससे अधिक, ४-आहारकतैजसकार्मणबन्धनका उससे अधिक ५-वैक्रियवैक्रियबन्धन का उससे अधिक, ६-वैक्रियतैजसबन्धनका उससे अधिक, ७-वैक्रियकार्मण बन्धन का उससे अधिक, ८-वैक्रियतैजसकार्मण बन्धन का उससे अधिक, इसी प्रकार ९-औदारिकऔदारिक बन्धन, १०-औदारिकतैजस बन्धन, ११-औदारिककार्मण बन्धन १२-औदारिकतैजसकार्मण बन्धन, १३-तैजसतैजस बन्धन, १४-तैजसकार्मण बन्धन और १५-कार्मणकार्मण बन्धनका भाग उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका अधिक अधिक होता है।

सस्थानमें-४-मध्यके चार सस्थानोंका सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर बराबर भाग होता है। ५-उससे समचतुरस्रका और उससे का भाग उत्तरोत्तर अधिक है।

शङ्का—यहां पर, बंधनेवाली प्रकृतियोंमें ही विभागका क्रम बतलाया है। किन्तु जब अपने अपने गुणस्थानमें किन्हीं प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद होजाता है, तो उन प्रकृतियोंके भागका क्या होता है ?

उत्तर—जिन प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद होजाता है, उनका भाग उनकी सजातीय प्रकृतियोंमें ही विभाजित होजाता है। यदि सभी सजातीय प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद हो जाता है तो उनके हिस्सेका द्रव्य उनकी मूलप्रकृतिके ही अन्तर्गत जो विजातीय प्रकृतियां हैं, उनको मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियोंका भी बंध रुक जाता है, तो उस मूल प्रकृति-

---

संहननोंमें-५-आदिके पाँच संहननोंका द्रव्य बराबर बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है, उससे ६-सेवार्त का अधिक है।

वर्णमें-१-कृष्णका सबसे कम, और २-नील, ३-लोहित, ४-पीत तथा ५-शुक्ल का एकसे दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

गन्धमें-१-सुगन्ध का कम और २-दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है।

रसमें-१-कटुक रसका सबसे कम और २-तिक्त, ३-कषैला, ४-खट्टा और ५-मधुरका उत्तरोत्तर एकसे दूसरे का अधिक अधिक भाग है।

स्पर्शमें-२-कर्कश और गुरु स्पर्शका सबसे कम ४-मृदु और लघु स्पर्श का उससे अधिक ६-रूक्ष और शीतका उससे अधिक तथा ८-स्निग्ध और उष्णका उससे अधिक भाग है। चारों युगलोंमें जो दो दो स्पर्श हैं उनका आपसमें बराबर बराबर भाग है।

आनुपूर्वीमें-१-देवानुपूर्वी और २-नरकानुपूर्वीका भाग सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर होता है। उससे ३-मनुष्यानुपूर्वी और ४-तिर्यगानुपूर्वीका क्रमसे अधिक अधिक भाग है।

त्रसादि बीसमें-त्रसका कम, स्थावरका उससे अधिक। पर्याप्तका कम, अपर्याप्तका उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ सुभग दुर्भग, सूक्ष्म बादर, और आदेय अनादेयका भी समझना

को द्रव्य न मिलकर अन्य मूलप्रकृतियोंको मिल जाता है। जैसे, स्त्यानर्द्धि निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर, उनके हिस्सेका सब द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचलाको मिलता है। निद्रा और प्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर उनका द्रव्य अपनी ही मूलप्रकृतिके अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण वगैरह सजातीय प्रकृतियोंको मिलता है। उनके भी बन्धका विच्छेद होनेपर ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें सब द्रव्य सातवेदनीयका हो जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये।

चाहिये। तथा अयश कीर्तिका सबसे कम और यश कीर्तिका उससे अधिक भाग है। आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुस्वरका परस्परमें बराबर भाग है।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थङ्कर नामका अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्वका विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियोंमें ही किया जाता है। जैसे कृष्णनाम कर्मके लिये वर्णनाम कर्मके शेष भेद सजातीय हैं। तथा सुभग और दुर्भग परस्परमें विरोधी हैं। किन्तु उक्त प्रकृतियां न तो सजातीय ही हैं क्योंकि वे किसी एक ही पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियां नहीं है। तथा विरोधी भी नहीं है, क्योंकि उनका बन्ध एक साथ भी हो सकता है।

गोत्रकर्म–में नीच गोत्रका कम उच्च गोत्रका अधिक है।

अन्तराय–में दानान्तरायका सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायका उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

यह अल्पबहुत्व उत्कृष्ट पदकी अपेक्षासे है।

जघन्य पदकी अपेक्षासे ज्ञानावरण, और वेदनीयका अल्पबहुत्व पूर्ववत् ही है। दर्शनावरणमें निद्राका सबसे कम प्रचलाका उससे अधिक, निद्रानिद्राका उससे अधिक प्रचला प्रचलाका उससे अधिक, स्त्यानर्द्धिका उससे

बतलाई गई रीतिके अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियोंको जो कर्मदलिक मिलते हैं, गुणश्रेणिरचनाके द्वारा ही जीव उन कर्मदलिकोंके बहुभागका क्षपण करता है। अतः गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाते हुए पहले उसकी संख्या और नाम बतलाते हैं—

अधिक, शेष पूर्ववत् भाग है। मोहनीयमें केवल इतना अन्तर है कि तीनों वेदोंका भाग परस्परमें तुल्य है और रति अरति से विशेषाधिक है। उससे संज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभका उत्तरोत्तर अधिक है। आयुमें तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सबसे कम है और देवायु नरकायुका उससे असंख्यातगुणा है। नामकर्ममें तिर्यंचगतिका सबसे कम, मनुष्य गतिका उससे अधिक, देवगतिका उससे असंख्यातगुणा और नरकगतिका उससे असंख्यातगुणा भाग है। जातिका पूर्ववत् है। शरीरोंमें औदारिकका सबसे कम, तैजसका उससे अधिक, कार्मणका उससे अधिक, वैक्रियका उससे असंख्यातगुणा, आहारकका उससे असंख्यातगुणा भाग है। संघात और बन्धनमें भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिये। अङ्गोपाङ्गमें औदारिकका सबसे कम, वैक्रियका उससे असंख्यातगुणा, आहारकका उससे असंख्यातगुणा भाग है। आनुपूर्वीका पूर्ववत् है। शेष प्रकृतियोंका भी पूर्ववत् जानना चाहिये। गोत्र और अन्तराय कर्मका भी पूर्ववत् है।

१-पञ्चसङ्ग्रहमें इन गुणश्रेणियोंको निम्न प्रकारसे बतलाया है—

"सम्मत्तदेससपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य ॥ ३१४ ॥
खीणाइतिगे असंखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखंसे ॥ ३१५ ॥"

अर्थात्–सम्यक्त्व, देशविरति और संपूर्ण विरतिकी उत्पत्तिमें, अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें, दर्शनमोहनीयके क्षपणमें, मोहनीयके उपशमनमें, उप-

सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन, दर्शनमोहनीयका क्षपक, चारित्रमोहनीयका उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये ग्यारह गुणश्रेणि होती हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके दलिकोंका वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती। यद्यपि स्थिति और रसका घात तो बिना ही वेदन किये शुभ परिणाम वगैरहके द्वारा किया जा सकता है, किन्तु दलिकोंकी निर्जरा वेदन किये बिना नहीं हो सकती। यों तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिकोंका अनुभवन करता रहता है, अतः कर्मोंकी भोगजन्य निर्जरा, जिसे औपनमिक अथवा सविपाक निर्जरा भी कहते हैं, उसके प्रतिसमय होती रहती है। किन्तु इस तरहसे एक तो परिमित कर्मदलिकोंकी ही निर्जरा होती है, दूसरे भोगजन्य निर्जरा नवीन कर्मबन्धका भी कारण है, अतः उसके द्वारा कोई जीव कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। (अतः उसके लिये कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक कर्मपरमाणुओंका क्षपण होना आवश्यक है। तथा उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही जाना चाहिये। इसे ही गुणश्रेणि निर्जरा कहते हैं।) इस प्रकारकी निर्जरा तभी होती है, जब आत्माके भावोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होती है। अर्थात् जीव उत्तरोत्तर विशुद्धिस्थानोंपर आरोहण करता जाता है। ये विशुद्धिस्थान, जो गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचनाका कारण होनेसे गुणश्रेणि भी कहे जाते हैं, ग्यारह होते हैं।

शान्तमोहमें, क्षपक श्रेणिमें, और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमशः असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है। तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका काल क्रमशः संख्यातवें भाग संख्यातवें भाग है ॥ १–रह उ स० प्र०।

उक्त गाथामें उन्हीं ग्यारह स्थानोंके नाम बतलाये हैं। जीव प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये अपूर्वकरण वगैरहको करते समय प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है, तथा सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके बाद भी उसका क्रम जारी रहता है। यह सम्यक्त्व नामकी पहली गुणश्रेणि है। आगेकी अन्य श्रेणियोंकी अपेक्षासे इस श्रेणिमें अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मन्द विशुद्धि रहती है, अतः उनकी अपेक्षासे इसमें कम कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उनके वेदन करनेका काल अधिक होता है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् जीव जब विरतिका एकदेश पालन करता है तब देशविरतिनामका दूसरी गुणश्रेणि होती है। इसमें प्रथम गुणश्रेणिकी अपेक्षासे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु वेदन करनेका समय उससे संख्यातगुणा कम होता है। सम्पूर्ण विरतिका पालन करनेपर तीसरी गुणश्रेणि होती है। देशविरतिसे इसमें अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, अतः इसमें उससे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणिरचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उससे संख्यातगुणा हीन होता है। इसी तरह आगे आगेकी गुणश्रेणिमें असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन होता जाता है।

जब जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करता है, अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायके समस्त कर्मदलिकोंको अन्य कषायरूप परिणमाता है, तब चौथी गुणश्रेणि होती है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका विनाश करते समय पांचवी गुणश्रेणि होती है। आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशमन करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें सातवी गुणश्रेणि होती है। क्षपकश्रेणिमें चारित्रमोहनीयका क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह

नामक बारहवें गुणस्थानमें नवमी गुणश्रेणि होती है। सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें दसवीं गुणश्रेणि होती है। और अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। इन सभी गुणश्रेणियोंमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन लगता है। अर्थात् कम समयमें अधिक अधिक कर्मदलिक खपाये जाते हैं। इसीसे उक्त ग्यारह स्थान गुणश्रेणि कहलाते हैं।

१ गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी इसी क्रमसे गुणश्रेणियोंकी गणना की है, जो इस प्रकार है–

"सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते ॥ ६६ ॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥ ६७ ॥"

अर्थात्–सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर, श्रावकके, मुनिके अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेकी अवस्थामें दर्शनमोहका क्षपण करने वालेके, कषायका उपशम करने वालेके, उपशान्त मोहके, क्षपक श्रेणिके तीन गुणस्थानोंमें क्षीणमोह गुणस्थानमें, तथा स्वस्थान केवलीके और समुद्घात करने वाले केवलीके गुणश्रेणि निर्जराका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है और काल उससे विपरीत है। अर्थात् समुद्घातगत केवलीसे लेकर सम्यक्त्व स्थान तक उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा काल लगता है। अथवा यह कहना चाहिये कि काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है। इसमें क्रमभंग्यस केवल इतना ही अन्तर है कि अयोग केवलीके स्थानमें समुद्घातगत केवलीको गिनाया है।

तत्त्वार्थसूत्र ९-४५ में सयोगी अयोगीके स्थानमें केवल 'जिन'को रखा है। और टीकाकारोंने उसे एक ही स्थान गिना है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गुणश्रेणियोंका यदि गुणस्थानके क्रमसे विभाग किया जाये, तो उनमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सभी गुणस्थान सम्मिलित हो जाते हैं। तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी उनमें सम्मिलित हो जाता है। विशुद्धिकी वृद्धि होनेपर ही चौथे पाचवें आदि गुणस्थान होते हैं अत आगे आगेके गुणस्थानोंमें जो उक्त गुणश्रेणिया होती हैं उनमें तो अधिक अधिक विशुद्धिका होना स्वाभाविक ही है।

गुणश्रेणिके ग्यारह स्थानोंको बतला कर, अब उसका स्वरूप, तथा जिस गुणश्रेणिमें जितनी निर्जरा होती है, उसका कथन करते हैं—

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो असखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

अर्थ—(उदयक्षणसे लेकर प्रतिसमय असख्यातगुणे असख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी रचनाको गुणश्रेणि कहते हैं)। पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति वगैरह गुणवाले जीव क्रमश असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा करते हैं।

भावार्थ—इस गाथाका पहली पक्तिमें गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाया है, और दूसरी पक्तिमें इससे पहलेकी गाथामें बतलाये गये गुणश्रेणिवाले जीवोंके निर्जराका प्रमाण बतलाया है। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणिके ग्यारह प्रकार बतलाये हैं, वे स्वय गुणश्रेणि नहीं हैं किन्तु गुणश्रेणिके कारण हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें

में सयोगी और अयोगीको ही गिनाया है। यथा—

"उवसतो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरि उवरि असखगुणकम्मणिज्जरया ॥ १०८ ॥"

किन्तु इसकी सस्कृत टीकामें टीकाकारने स्वस्थान केवली और समुद्घात गत केवलीको ही गिनाया है, 'अजोईया'को उन्होंने छोड ही दिया है।

गुणश्रेणि कहा गया है। जैसे कहावत है कि 'अन्न ही प्राण है'। किन्तु अन्न प्राण नहीं है, किन्तु प्राणोंका कारण है, इसलिये उसे प्राण कह देते हैं। इसीतरह सम्यक्त्व वगैरह भी गुणश्रेणिके कारण हैं, किन्तु स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं। गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेष है, जो इस गाथामें बतलाई गई है। इस क्रियाको समझनेके लिये हम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी प्रक्रियापर दृष्टि डालनी होगी। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणोंको करता है। अपूर्वकरणमें प्रवेश करते ही चार काम होने प्रारम्भ हो जाते हैं—एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिबन्ध और चौथा गुणश्रेणि। स्थितिघातके द्वारा पहले बाँधे हुए कर्मोंकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। जिन कर्मदलिकोंकी स्थिति कम हो जाती है, उनमेंसे प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण करके उदय समयसे लेकर ऊपरकी ओर स्थापित कर दिये जाते हैं। कर्मप्रकृति-(उपशमनाकरण) की पन्द्रहवीं गाथाकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

उवरिल्लाओ ठिइउ पोग्गल घेत्तूण उदयसमये थोवा प क्खिवति, बितियसमये असंखेज्जगुणा एवं जाव अन्तोमुहुत्त।"

अर्थात्—'ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करके उनमेंसे उदयसमयमें थोड़े दलिकोंका निक्षेपण करता है, दूसरे समयमें उनसे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय

१ 'गुणसेढी निक्खवो समये समये असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो सेसे सेसे य निक्खेवो ॥ १५ ॥'

अर्थ-प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंके निक्षेपण करने को गुणश्रेणी कहते हैं। उसका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके काल से कुछ अधिक है। इस कालमें से ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों ऊपरके शेष समयोंमें ही दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।

तक (प्रतिसमय) असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है।'

खुलासा यह है कि स्थितिघातक द्वारा उन्हीं दलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्तमुहूर्तसे अधिक होती है। अत स्थितिका घात करदेनेसे जो कर्मदलिक बहुत समय बाद उदयमें आते, वे तुरत ही उदयमें आने योग्य होजाते हैं। इसलिये जिन कर्मदलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है, उनमसे प्रतिसमय कर्मदलिकोंको ले लेकर, उदयसमयसे लेकर अन्तमुहूर्त कालके अन्तिम समयतक असख्यात गुणितक्रमसे उनकी स्थापना की जाती है। (अर्थात् पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे थोडे दलिक उदय समयमें दाखिल करदिये जाते हैं, उससे असख्यातगुणे दलिक उदय समयसे ऊपरके द्वितीय समयमें दाखिल करदिये हैं, उससे असख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें दाखिल कर दिये जाते हैं। इसी क्रमसे अन्तमुहूर्तकालके अन्तिम समयतक असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंकी स्थापना की जाती है। यह प्रथम समयमें गृहीत दलिकोंके स्थापन करनेकी विधि है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें गृहीत दलिकोंके निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। अन्तर्मुहूर्त-काल तक यह क्रिया होती रहती है। इसीको गुणश्रेणि कहते हैं)। जैसा कि कर्मप्रकृतिकी उक्त पन्द्रहवीं गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने लिखा है—

"अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह-यत्स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया निक्षिपति। उक्तं च-'उवरिल्लठिइहिंतो घित्तूण पुग्गले उ सो खिवइ। उदयसमयम्मि थोवे तत्तो अ असंखगुणिए उ ॥१॥ बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ। एवं समए समए अन्तमुहुत्तस्स तु जा पुग्न ॥२॥' एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधि। एवं-

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षपविधि द्रष्टव्य । किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण श्रेणिचरमसमय यावद् गृह्यमाण दलिक यथोत्तरमसख्येयगुण द्रष्टव्यम् । उक्तञ्च-दलिय तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवय गिण्हे । उवरिल्लुठिइहितो वियम्मि असखगुणिय तु ॥१॥ गिण्हइ समए दलिय तइए समए असखगुणिय तु । एव समए समए जा चरिमो अतसमओत्ति ॥ २ ॥' इहान्तमुहूतप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्ति करणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्य, तावत्कालमध्ये चाध स्तनोदयक्षणे वेदनत क्षीणे शेषक्षणेषु दलिक रचयति, न पुन रुपरि गुणश्रेणिं वधयति । उक्त च-"सेढीइ कालमाण दुण्णय करणाण समहिय जाण । खिज्जइ सा उदएण ज सेस तम्मि णिक्खेओ ।' इति ।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिखण्डकका घात करता है उसमस दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तमुहूर्तके अन्तिम

---

१ लब्धिसारम गाथा ६८ स ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा ह, जिसका आशय इस प्रकार ह-गुण श्रेणिरचना जो प्रकृतियाँ उदयमें आरहीं है, उनमें भी होती ह और जो प्रकृतियाँ उदय में नहीं आरही हे उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंक द्रव्यका निक्षेपण तो उदयावली गुणश्रणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। किन्तु जो प्रकृतियाँ उदयमें नहीं होतीं उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें जो निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया लीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये । उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणिके

समय तकके प्रत्येक समयमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—'ऊपरकी स्थितिसे पुद्गलोंको लेकर उदयकालमें थोड़े स्थापन करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालकी समाप्ति तकके समयोंमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।' यह प्रथम समयमें ग्रहण किये हुए दलिकोंके निक्षेपणकी विधि है। इसी ही तरह दूसरे आदि समयोंमें ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। तथा, गुणश्रेणिरचनाके लिये प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते हैं। कहा भी है—"ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करते हुए, प्रथम समयमें थोड़े दलिकोंका ग्रहण करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय तक असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है।" यहा निक्षेपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है और

समयोंके बराबर जो निषेक हैं उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि में दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणिसे ऊपरके, अन्तके कुछ निषेकों को छोड़कर, शेष सर्व निषेकोंमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपरकी स्थितिमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इस क्रियाको मिथ्यात्वके उदाहरणके द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्वके द्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर, एक भाग विना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है। शेष एक भागको पल्यके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभागका स्थापन ऊपरकी स्थितिमें करता है। शेष एक भागमें असख्यातलोकका भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणि आयाम में देता है। शेष एक भाग उदयावलीमें देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि

दलिकोंकी रचनारूप गुणश्रेणिका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिए। इस कालमेंसे नीचे नीचेके उदयक्षण का अनुभव करनेके बाद क्षय होजानेपर, बाकीके क्षणोंमें दलिकोंकी रचना करता है। किन्तु गुणश्रेणिको ऊपरकी ओर नहीं बढ़ाता है। कहा है— 'गुणश्रेणिका काल दोनों करणोंके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिए। उदयके द्वारा उसका काल क्षीण होता जाता है, अतः जो शेषकाल रहता है उसीमें दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।"

सारांश यह है कि (गुणश्रेणिका काल अन्तर्मुहूर्त है,) अतः अन्तर्मुहूर्त तक ऊपरकी स्थितिमेंसे कर्मदलिकोंका प्रतिसमय ग्रहण किया जाता है। और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका स्थापन असंख्यातगुणित क्रमसे उदयक्षणसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तिम समय तकमें कर दिया जाता है। जैसे यदि अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण १६ समय कल्पना किया जाय तो गुणश्रेणिके प्रथम समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्तप्रकारसे १६ समयोंमें किया जायगा। दूसरे समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन बाकीके पन्द्रह समयोंमें ही होगा क्योंकि पहले उदयक्षणका वेदन होचुका। तीसरे समयमें

रचनाके लिये गुणश्रेणि कालके अन्तिम समयपर्यन्त असंख्यातगुण असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधानके अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि आयाम और ऊपरकी स्थितिमें उस द्रव्यका स्थापन करता है। इस प्रकार आयुके सिवाय शेष सातकर्मोंका गुणश्रेणिविधान जानना चाहिये।

जीवकाण्ड गाथा ६६ ६७ की टीकामें भी गुणश्रेणिका विस्तारसे वर्णन किया है।

पञ्चसंग्रहमें भी गुणश्रेणिका स्वरूप उपर्युक्त प्रकार ही बतलाया है—

घाइयठिइओ दलियं घेत्तु घेत्तु असंखगुणणाए ।
साहियदुकरणकालं उदयाइ रयइ गुणसेढिं ॥ ७४६ ॥'

जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयोंमें ही होगा। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि प्रत्येक समयमें गृहीत दलिकोंका स्थापन सोलह ही समयोंमें होता है और इस तरह गुणश्रेणिका काल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार (अन्तर्मुहूर्त कालतक असख्यात गुणित क्रमसे जो दलिकोंकी स्थापनाकी जाती है उसे गुणश्रेणि कहते हैं।) सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय जीव इस प्रकारकी गुणश्रेणि रचना करता है। गुणश्रेणि उदयसमयसे होती है और ऊपर ऊपर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। अत गुणश्रेणि करनेवाला जीव ज्यों ज्यों ऊपरकी ओर चढ़ता जाता है त्यों त्यों प्रतिसमय असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा करता जाता है। क्योंकि जिस क्रमसे दलिक स्थापित होते हैं उसी क्रमसे वे प्रतिसमय उदयमें आते हैं। अत वे असख्यात गुणितक्रमसे स्थापित किये जाते हैं और उसी क्रमसे उदयमें आते हैं, अत सम्यक्त्वमें असख्यातगुणी निर्जरा होती है।

देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं करता। तथा अपूर्वकरणमें यहां गुणश्रेणिरचना भी नहीं होती, और अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर नियमसे देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होजाती है। इसीसे तीसरे अनिवृत्तिकरणकी आवश्यकता नहीं होती। उक्त दोनों करण यदि अविरतदशामें किये जाते हैं तब तो देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होती है, और यदि देशविरत दशामें किये जाते हैं तो नियमसे सर्वविरति प्राप्त होती है। देशविरति अथवा सर्वविरतिकी प्राप्ति होनेपर जीव उदयावलिके ऊपर गुणश्रेणिकी रचना करता है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृतियाँ उदयवती होती हैं, उनमें तो उदयक्षणसे लेकर ही गुणश्रेणि होती है, किन्तु जो प्रकृतियाँ अनुदयवती होती हैं, उनमें उदयावलिकाके ऊपरके समयसे लेकर गुणश्रेणि होती है। पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और छठे

में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती हैं अतः उसमें उदयावलिकाको छोड़कर ऊपरके समयसे गुणश्रेणि होती है। देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालतक जीवके परिणाम वर्धमान रहते हैं। उसके बाद कोई नियम नहीं है—किसीके परिणाम वर्धमान रहते हैं, किसीके तदवस्थ रहते हैं, और किसीके हीयमान होजाते हैं। तथा जबतक देश विरति या सर्वविरति रहती है, तबतक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्रके साथ उदयावलिके ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त कालतक असंख्यातगुणितक्रमसे गुणश्रेणिकी रचना करता है, क्योंकि परिणामोंकी नियत वृद्धिका काल उतना ही है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते हैं तो परिणामोंके अनुसार कभी असंख्यातवे भाग अधिक, कभी संख्यातवे भाग अधिक, कभी संख्यातगुणी और कभी असंख्यातगुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम होते हैं तो उस समय उक्त प्रकारसे ही हीयमान गुणश्रेणिको करता है, और अवस्थितदशामें अवस्थित गुणश्रेणिको करता है। अर्थात् वर्धमान दशामें दलिकोंकी संख्या बढ़ती हुई होती है, हीयमान दशामें घटती हुई होती है और अवस्थित दशामें अवस्थित रहती है। अतः देशविरति और सर्वविरतिमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत

---

१ देखो, कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) गा० २८ २९ की चूर्णि और टीकाएँ।

२ 'उदयावलिए उप्पिं गुणसेढिं कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असंखगुणणाए तत्तिय वड्डए कालं ॥७६३॥' पञ्चसङ्ग्रह।

३ 'चउगइया पज्जत्ता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ॥३१॥"
कर्मप्रकृति (उप)

और सर्वविरत जीव करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तो चारों गतिके लेने चाहियें, देशविरत मनुष्य और तिर्यञ्च ही होते हैं, और सर्वविरत मनुष्य ही होते हैं। जो जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेके लिये उद्यत होता है, वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणोंको करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही गुणसंक्रम भी होने लगता है। अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अनन्तानुबन्धी कषायके थोड़े दलिकोंका शेष कषायोंमें संक्रमण करता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यात-गुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्व-करणके अन्तिम समयतक होती है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणमें गुणसंक्रम और उद्वलन संक्रमणके द्वारा समस्त दलिकोंका विनाश करदेता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

(दर्शनमोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ वज्रऋषभनाराच संहननका धारक मनुष्य आठवर्षकी अवस्थाके बाद करता है।) किन्तु यह काम जिनकालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही कर सकता है। अर्थात् ऋषभ जिनसे लेकर जम्बूस्वामीको केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने तकके कालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य दर्शनमोहका क्षपण कर सकता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणा भी उसी प्रकारसे जानना चाहिये जैसा कि पहले अनन्तानुबन्धी कषायका बतला आये हैं। यहां पर भी पूर्ववत् तीनों करण करता है और अपूर्वकरणमें गुणश्रेणि वगैरह काम होते हैं।

उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव भी तीनों करणोंको करता

---

१ "दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पिं ॥ ३२ ॥"
कर्मप्रकृति (उपशम०)

है। यहां इतना अन्तर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थानमें करता है। अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामके गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामके गुणस्थानमें करता है। यहां परभी पूर्ववत् स्थितिघात गणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं। अतः उपशमक भी प्रतिसमय असंख्यात गुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीयका उपशम करनेके बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुंच कर भी जीव गुणश्रेणिरचना करता है। उपशान्तमोहका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसके संख्यातवें भाग कालमें गुणश्रेणिकी रचना होती है। अतः यहां पर भी जीव प्रति समय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थान तक आकर जब जीव क्षपकश्रेणि चढ़ता है, अथवा उपशमश्रेणिपर आरूढ हुए बिना ही सीधा क्षपकश्रेणिपर चढ़ता है तो वहाँपर भी यथाप्रवृत्तकरण,अपूर्वकरण और और अनिवृत्तिकरणको करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थानोंसे भी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक गुणश्रेणियोंमें भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

इन ग्यारह गुणश्रेणियोंमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त होने पर भी अन्तर्मुहूर्तका परिमाण उत्तरोत्तर हीन होता है, तथा निर्जरा द्रव्यका परिमाण सामान्यसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होनेपर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कम कम समयमें अधिक अधिक द्रव्यकी निर्जरा होती है क्योंकि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार गुणश्रेणिका विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणिका वर्णन करते हुए बतला आये हैं कि जीव ज्यों ज्यों आगे के गुणोंको अपनाता जाता है, त्यों त्यों उसके असंख्यातगुणी अस

ख्यातगुणी निर्जरा होती है। और क्रमशः सक्लेशकी हानि और विशुद्धिका प्रकर्ष होनेपर आगे आगेके गुण ही गुणस्थान कहे जाते हैं। अतः यहाँ गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं—

पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतर हस्सं।
गुरु मिच्छी वे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है। और इतर गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। तथा, मिथ्यात्व गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है, और इतर गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्त है।

भावार्थ—हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व, (देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणियाँ बतलाई हैं, वे प्रायः गुणस्थान ही हैं। गुणोंके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं।) अतः सम्यक्त्वगुण जिस स्थानमें प्रादुर्भूत होता है, वह सम्यक्त्व गुणस्थान कहा जाता है। देशविरति गुण जिस स्थानमें प्रकट होता है, वह देशविरति गुणस्थान कहा जाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। उक्त गुणश्रेणियोंका सम्बन्ध गुणस्थानोंके साथ होनेके कारण ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थानसे च्युत होकर जितने समयके बाद पुनः उस गुणस्थानको प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थानका अन्तरकाल कहा जाता है। यहाँ सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका जघन्य अन्तराल पल्यके असंख्यातवें भाग बतलाया है, जो इस प्रकार है—

कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीयकी उद्वलना कर देनेवाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सास्वादन-

सम्यग्दृष्टि होकर, मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाता है। वही जीव यदि उसी क्रमसे पुनः सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करता है तो कमसे कम पल्यके असंख्यातवें भाग कालके बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सास्वादन गुणस्थानसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें आनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृतिकी सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होते हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होसकता, और औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना सास्वादन गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः मिथ्यात्वमें जानेके बाद जीव सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीयकी प्रतिसमय उद्वलना करता है, अर्थात् उक्त दोनों प्रकृतियोंके दलिकोंको मिथ्यात्व मोहनीयरूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वेलन करते करते पल्यके असंख्यातवें भाग कालमें उक्त दोनों प्रकृतियोंका अभाव हो जाता है। और उसके होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सास्वादन गुणस्थानमें आ जाता है। अतः सास्वादन गुणस्थानका अन्तरकाल पल्यके असंख्यातवें भागसे कम नहीं हो सकता।

शङ्का—कोई कोई जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानमें आते हैं, और अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः उपशमश्रेणिपर चढ़कर, वहाँसे गिरकर पुनः सास्वादन गुणस्थानमें आ जाते हैं। इस प्रकारसे सास्वादनका जघन्य अन्तर बहुत थोड़ा होता है। अतः उसका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग क्यों बतलाया गया है?

---

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंके बिना ही किसी प्रकृतिको अन्य प्रकृतिरूप परिणमानेको उद्वलन कहते हैं।

२ 'पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयतः स्तोके उद्वलनसंक्रमे सर्वजघन्य प्रदेशसंक्रम ।'

(कर्मप्रकृति, मलय० टी० गा० १०० संक्रम०)

उत्तर-उपशमश्रेणिसे च्युत होकर जो सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगतिमें ही सम्भव है और वहाँ पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है। अतः यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है। किन्तु उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सास्वादनकी प्राप्ति बतलाई है, वह चारों गतिमें सम्भव है। अतः उसकी अपेक्षासे ही सास्वादनका जघन्य अन्तराल बतलाया है।

सास्वादनके सिवाय बाकीके गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशमश्रेणिके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन गुणस्थानोंको पुनः प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तराल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि जब कोई जीव उपशमश्रेणि पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है, और वहाँसे गिरकर क्रमशः उतरते उतरते मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आ जाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें पुनः ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योंकि एक भवमें दो बार उपशम श्रेणिपर चढ़नेका विधान शास्त्रोंमें पाया जाता है[1] उस समय मिश्रगुणस्थानके सिवाय उक्त बाकीके गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ मिश्रगुणस्थानको इसलिये छोड़ दिया है कि श्रेणिसे गिरकर जीव मिश्र गुणस्थानमें नहीं जाता है। अतः जब जीव श्रेणि पर नहीं चढ़ता तब मिश्र गुणस्थानका और सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः प्राप्त हो सकते हैं। बाकीके क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान

---

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा० ६४, तथा पञ्चसंग्रह गा० ९३। उपशम०।

एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर होता है।

उत्कृष्ट अन्तर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका एकसौ बत्तीस सागर है, जो इस प्रकार है—कोई जीव विशुद्ध परिणामोंके कारण मिथ्यात्वगुणस्थानको छोड़कर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यात्वमें चला जाता है। वहाँसे पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके छियासठ सागरकी समाप्तितक यदि उसने मुक्ति लाभ नहीं किया तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्वमें जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस सागरसे कुछ अधिक होता है। सास्वादनसे लेकर उपशान्तमोह तक बाकीके गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त है। क्योंकि इन गुणस्थानोंसे भ्रष्ट होकर जीव अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसके बाद उसे पुनः उक्त गुणस्थानोंकी प्राप्ति होती है। अतः इन गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त होता है। बाकीके क्षीणमोह वगैरह गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, यह पहले कह ही आये हैं।

सास्वादनका जघन्य अन्तर पल्योपम कालके असंख्यातवें भाग बतलाया है। अतः पल्योपमकालका स्वरूप विस्तारसे कहते हैं—

उद्धारअद्धखित्त पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी गुणस्थानोंका अन्तर इतना ही बतलाया है। यथा—

"पलियासंखो सासायणंतर सेसयाण अंतमुहू।
मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराण पोग्गलद्धंतो ॥ ९५ ॥"

अर्थ–पल्योपम तीन प्रकारका होता है–उद्धार पल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र पल्योपम । उद्धार पल्योपममें प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाता है और उससे द्वीप और समुद्रोंकी संख्या मालूम की जाती है। अद्धा पल्योपममें सौ सौ वर्षके बाद एक एक बालाग्र निकाला जाता है, और उसके द्वारा नारक तिर्यञ्च आदि चारों गतियोंके जीवोंकी आयुका परिमाण जाना जाता है । क्षेत्रपल्योपममें प्रति समय बालाग्रसे स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट एक एक आकाश प्रदेश निकाला जाता है और उसके द्वारा त्रस आदि कायोंका परिमाण जाना जाता है ।

भावार्थ–इस गाथामें पल्योपमके भेद, उनका स्वरूप और उनकी उपयोगिताका संक्षेपमें निर्देश किया है । किन्तु **अनुयोगद्वार**[1] **प्रवचनसारोद्धार**[2] वगैरहमें उनका स्वरूप विस्तारसे बतलाया है । अतः गाथामें सूत्ररूपसे कही गई बातोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये, उक्त ग्रन्थोंके आधारपर पल्योपम वगैरहका स्वरूप बतलाया जाता है ।

गाथा ४०-४१में क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाते हुए प्राचीन कालगणनाका थोड़ा सा निर्देश कर आये हैं, और समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्तका स्वरूप बतला आये हैं । तथा ३० मुहूर्तका एक दिनरात, पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, और दो अयनका एक वर्ष तो प्रसिद्ध ही हैं । वर्षोंकी अमुक अमुक संख्याको लेकर प्राचीन कालमें जो संज्ञाएँ निर्धारित की गई थी, वे इस प्रकार हैं[3]–८४ लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग,

१ गा० १०७, सू० १३८ । २ पृ०३०२ । ३ ग्रन्थलोक० पृ० ४ ।

४ ये संज्ञाएँ अनुयोगद्वारके अनुसार दी गई हैं। ज्योतिष्करण्डके अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है–

८४ लाख पूर्वका एक लताङ्ग, ८४ लाख लताङ्गका एक लता ८४ लाख लताका एक महालताङ्ग, ८४ लाख महालताङ्गका एक महालता, इसी प्रकार

चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वका एक त्रुटिताङ्ग, चौरासी लाख त्रुटिताङ्गका एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटितका एक अडडाङ्ग, चौरासी लाख अडडाङ्गका एक अडड, इसी प्रकार क्रमशः अववाङ्ग, अवव, हुहुअङ्ग हुहु, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अर्थनिपूराङ्ग, अर्थनिपूर, अयुताङ्ग, अयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, नयुताङ्ग, नयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुण होते हैं। इन संज्ञाओंको बतलाकर अनुयोगद्वारमें आगे लिखा है—'**एयावया चेव गणिए, एयावया चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवर ओवमिए पवत्तइ।**" (सू० १३७)

अर्थात्—'शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करनेसे १९४ अङ्क प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है गणितकी अवधि वहाँ तक है, उतनी ही राशि

आगे नलिनाङ्ग नलिन महानलिनाङ्ग, महानलिन, पद्माङ्ग पद्म, महापद्माङ्ग, महापद्म, कमलाङ्ग कमल, महाकमलाङ्ग महाकमल, कुमुदाङ्ग कुमुद, महाकुमुदाङ्ग महाकुमुद त्रुटिताङ्ग, त्रुटित महात्रुटिताङ्ग महात्रुटित, अडडाङ्ग, अडड, महाअडडाङ्ग, महाअडड, ऊहाङ्ग, ऊह, महाऊहाङ्ग, महाऊह शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्षप्रहेलिकाको समझना चाहिये। (गा० ६४७१)

काललोकप्रकाशके अनुसार अनुयोगद्वार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह माथुर वाचनाके अनुगत हैं और ज्योतिष्करण्ड वगैरह वल्भी वाचनाके अनुगत हैं। इससे दोनोंकी गणनाओंमें अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थ त० राजवार्तिकमें (पृ० १४०) पूर्वाङ्ग पूर्व नयुताङ्ग नयुत कुमुदाङ्ग, कुमुद पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग नलिन, कमलाङ्ग, कमल तुट्याङ्ग, तुट्य अटटाङ्ग, अटट अममाङ्ग, अमम, हूहूअङ्ग हूहू लताङ्ग लता महालता प्रभृति संज्ञाएं दी हैं।

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है। यथा—"अउ्‌ए, नउ्‌ए पउ्‌ए।' पृ० ७१ उ०।

गणितका विषय है। उससे आगे उपमा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है।'

इसका आशय यह है कि जैसे लोकमें जो वस्तुएँ सरलतासे गिनी जा सकती हैं, उनकी गणना की जाती है। जो वस्तुएँ, जैसे तिल, सरसों वगैरह, गिनी नहीं जा सकती, उन्हें तोल या माप वगैरहसे आंक लेते हैं। उसी तरह समयकी जो अवधि वर्षोंके रूपमें गिनी जा सकती है, उसकी तो गणनाकी जाती है और उसके लिये पूर्वाङ्ग पूर्व वगैरह संज्ञाएँ कल्पितकी गई हैं। किन्तु जहाँ समयकी अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षोंमें नहीं की जा सकती तो उसे उपमाप्रमाणके द्वारा जाना जाता है। उस उपमा प्रमाणके दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। अनाज वगैरह भरनेके गोलाकार स्थानको पल्य कहते हैं। समयकी जिस लम्बी अवधिको उस पल्यकी उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है। पल्योपमके तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र-पल्योपम। इसी प्रकार सागरोपम कालके भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरोपम, अद्धासागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमेंसे प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो प्रकारका होता है—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

उत्सेधाङ्गुलके द्वारा निष्पन्न एक योजनप्रमाण लम्बा, एक योजन

---

१ अनुयोगद्वारमें सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं।

२ अङ्गुलके तीन भेद हैं—आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल।

जिस समयमें जिन पुरुषोंके शरीरकी ऊंचाई अपने अङ्गुलसे १०८ अङ्गुलप्रमाण होती है, उन पुरुषोंका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहलाता है। इस अङ्गुलका प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता, क्योंकि कालभेदसे मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई घटती बढ़ती रहती है। उत्सेधाङ्गुलका प्रमाण—परमाणु दो प्रकारका होता है—एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहारपरमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओंका एक व्यवहारपरमाणु होता है। यह व्यवहार-

परमाणु वास्तवमें तो एक स्कन्ध ही है, किन्तु व्यवहारसे इसे परमाणु कहते हैं क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्णसे तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, तथा आगेके सभी मापोंका इसे मूलकारण कहा गया है। अनन्त व्यवहार परमाणुओंकी एक उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका और आठ उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है। (जीवसमाससूत्रमें अनन्त उत्श्लक्ष्ण० की एक श्लक्ष्ण० बतलाई है किन्तु आगममें अनेक स्थलोंपर इसे अठगुणी ही बतलाया है। लो० प्र०, १ स०, पृ०, २ पृ०) आठ श्लक्ष्ण० का एक उर्ध्वरेणु, ८ उर्ध्वरेणुका १ त्रसरेणु आठ त्रसरेणुका १ रथरेणु, (कहीं कहीं 'परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु' ऐसा क्रम पाया जाता है। (देखो ज्योतिष्क० गा० ७४) किन्तु प्रवचनसा० के व्याख्याकार इस असङ्गत कहते हैं। यथा–'इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु परमाणु रथरेणु त्रसरेणु' इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासङ्गत एव लक्ष्यते।' पृ० ४०६ उ०)

आठ रथरेणुका देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्यका एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक पूर्वापरविदेहके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्योंका केशाग्र उन आठ केशाग्रोंकी एक लीख आठ लीखकी एक यूका (जूं) आठ यूकाका एक यवका मध्यभाग और आठ यवमध्यका एक उत्सेधाङ्गुल होता है। तथा, ६ उत्सेधाङ्गुलका एक पाद, दो पादकी एक वितस्ति दो वितस्तिका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष दो हजार धनुषका एक गव्यूत, और चार गव्यूतका एक योजन होता है। उत्सेधाङ्गुल से अढ़ाईगुना विस्तार और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणाङ्गुल होता है युगके आदिमें भरत

चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य=गढा बनाना चाहिये जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{6}$ योजन होती है। एक दिनसे लेकर सातें दिन तकके

चक्रवर्तीका जो आत्माङ्गुल था, वही प्रमाणाङ्गुल जानना चाहिये। अनुयोग० पृ० १५६-१७२ प्रवचनसा० पृ० ४०९-८, द्रव्यलोक० पृ० १-२। दिगम्बर परम्परामें अङ्गुलोंका प्रमाण इसप्रकार बतलाया है-अनन्तानन्त सूक्ष्मपरमाणुओंकी एक उत्सन्नासन्ना, आठ उत्सन्नासन्नाका एक सन्नासन्ना, आठ सन्नासन्नाका एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु, का एक रथरेणु आठ रथरेणुका उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका रम्यक और हरिवर्षके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का भरत, ऐरावत और विदेहके मनुष्यका एक वालाग्र, शेष पूर्ववत्। उत्से धाङ्गुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणाङ्गुल होता है। यही भरत चक्रवर्तीका आत्मा ङ्गुल है। त० राजवार्तिक पृ० १४७-१४८।

१ अनुयोगद्वारमें 'एगाहिअ बेआहिअ, तेआहिय जाव उक्कोसेण सत्तरत्तरूढाण वालग्गकोडीण' (पृ० १८० पृ०) लिखा है। प्रवचन सारोद्धारमें भी इससे मिलता जुलता ही पाठ है। दोनोंकी टीकामें इसका अर्थ किया है कि सिरके मुडादेने पर एक दिनमें जितने बड़े वाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं, दो दिनके निकले वाल द्व्याहिक्य, तीन दिनके वाल त्र्याहिक्य, इसी तरह सात दिन तकके उगे हुए वाल लेने चाहिये। द्रव्यलोकप्रकाशमें इसके बारेमें लिखा है कि उत्तरकुरुके मनुष्योंका सिर मुंडादेनेपर एकसे सात दिनतकके अन्दर जो केशाग्रराशि उत्पन्न हो वह लेनी चाहिये। उसके आगे पृ० ४ पृ० में लिखा है-

"क्षेत्रसमासबृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचन सारोद्धारवृत्तिसंग्रहणीबृहद्वृत्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्या

महोऽस्या यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणि इत्यादि सामान्यत कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'क्षेत्रविचार प्रकरण क्षेत्रविचारसत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरुरुद्भवसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रकशतद्वापञ्चाशत्प्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशै रोमखण्डैरेष पल्यो भ्रियते इत्यादिरर्थतः सम्प्रदायो दृश्यत इति प्रथम्।''

अर्थात् क्षेत्रसमासकी बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी वृत्तिका यह अभिप्राय है अर्थात् उनमें उत्तरकुरुके मनुष्यके केशाग्र बतलाये हैं। प्रवचनसा की वृत्ति और सङ्ग्रहणीकी बृहद्वृत्तिमें सामान्यसे सिरके मुडानेपर एकसे लेकर सात दिनतकके उगे हुए वालोंका उल्लेख किया है-उत्तर कुरुके मनुष्यके बालाग्रोंका ग्रहण नहीं किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि देवकुरु उत्तरकुरुमें जन्मे सात दिनके मेष (भेड़) के उत्सेधाङ्गुलप्रमाण रोमको लेकर उसके सात बार आठ आठ खण्ड करना चाहिये। अर्थात् उस रोमके आठ खण्ड करके पुन एक एक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। उन खण्डोंमेंसे भी प्रत्येक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। ऐसा करते करते उस रोमके बीस लाख सतानवे हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खण्ड होते हैं। इस प्रकारके खण्डोंसे उस पल्यको भरना चाहिये।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ० ७९) में भी 'एगाहिअ बेहिअ तेहिअ उक्कोसेण सत्तरत्तपरूढाणं वालग्गकोडीणं ही पाठ है। किन्तु टीकाकारने उसका अर्थ-'वालेपु अग्राणि श्रेष्ठानि वालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेषां कोटय अनेका कोटीकोटीप्रमुखा सख्या' किया है। जिसका आशय है-अग्र=श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्योंके वाल, उनकी कोटिकोटि।

टीकाकारने वालसामान्यसे कुरुभूमिके मनुष्योंके वालोंका ग्रहण

उगे हुए बालाग्रोंसे उस पल्यको इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जलका ही उसमें प्रवेश हो सके। उस पल्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाय। इस तरह करते करते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उस कालको बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। दस कोड़ीकोड़ी बादर उद्धार पल्योपमका एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इन बादर उद्धारपल्योपम और बादर उद्धार सागरोपमका केवल इतना ही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलतासे समझमें आ जाते हैं।

बादर उद्धारपल्यके एक एक केशाग्रके अपनी बुद्धिके द्वारा असंख्यात असंख्यात टुकड़े करना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध आँखोंवाला पुरुष अपनी आँखसे जितने सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यको देखता है, उसके भी असंख्यातवें भाग होते हैं। तथा

किया है। दिगम्बर साहित्यमें 'एकादिससाहोरात्रिजाताविबालाग्राणि' लिखकर 'एक दिनसे सात दिनतकके जन्मे हुए मेषके बालाग्र ही लिये हैं।

१ इसके बारेमें द्रव्यलोकप्रकाश (१ सर्ग) में इतना और भी लिखा है–

"तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता।
न मनाक् क्रियते नीचैरेव निबिडतागतात् ॥ ८२ ॥"

अर्थात्–'वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्रवर्तीकी सेना उनपरसे निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।'

२ "अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि।
अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥८६॥"

द्रव्यलोक० (१ सर्ग)

क्षेत्रको अपनाने सूक्ष्म पनक जीवका शरीर जितने क्षेत्रको रोकता है, उससे असंख्यातगुणा अवगाहनावाले होते हैं। इन केशाग्रोंसे पहलेकी ही तरह पल्यमें ठसाठस भर देना चाहिये। पहलेकी ही तरह प्रति समय केशाग्रके एक एक खण्डको निकालने पर संख्यात करोड़ वर्षमें वह पल्य खाली होता है। अतः इस कालको सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्यका एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपमसे द्वीप और समुद्रोंकी गणना की जाती है। अढ़ाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपमके अथवा पचीस कोटी-कोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपमके जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये। पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक केशाग्र निकालनेपर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको बादर अद्धा पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर अद्धा पल्योपमकालका एक बादर अद्धा सागरोपमकाल होता है। तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्यमेंसे सौ सौ वर्षके बाद केशाग्रका एक एक खण्ड निकालने पर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको सूक्ष्म अद्धा

१ इसका विशेषावश्यकभाष्यकी कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ०२१०)में वनस्पतिविशेष अर्थ किया है। प्रवचनसारोद्धारकी टीकामें (पृ० ३०३) लिखा है कि वृद्धोंने बादर पर्याप्तक पृथिवीकायके शरीरके बराबर उसकी अवगाहना बतलाई है। यथा—"वृद्धास्तु व्याचक्षते—बादरपर्याप्तपृथिवीकाय शरीरतुल्यमिति। तथा चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसूरि—'बादर पृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसंख्येयखण्डानि' इति वृद्धवाद।"

२ 'एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअण ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाण उद्धारो घेप्पइ। ... भंते! दीवसमुद्दा ... जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसाग ... ।' अनुयोग० पृ० १८१ पू०।

पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपमका एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकाल होता है। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकी एक अवसर्पिणी और उतनेकी ही एक उत्सर्पिणी होता है। इन सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपमके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंकी आयु, कर्मोंकी स्थिति वगैरह जानी जाती है।

पहलेकी ही तरह एक योजन लम्बे चौड़े और गहरे गढेमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके उगे हुए बालके अग्र भागको पहले की तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें, उनमेंसे प्रति समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें समस्त प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको बादर क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणीकालके बराबर होता है। दस कोटीकोटी बादरक्षेत्र पल्योपमका एक बादरक्षेत्र सागरोपम काल होता है।

बादरक्षेत्र पल्यके बालाग्रमेंसे प्रत्येकके असंख्यात खण्ड करके उन्हें उसी पल्यमें पहले ही की तरह भर दो। उस पल्यमें वे खण्ड आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें और जिन प्रदेशोंको स्पर्श न करें, उनमसे प्रति

१ एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहिं किं पओअण ? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो० नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाण आउअ मविज्जइ। अनुयोग० सू० १३८ पृ० १८३।

२ यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रोंसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो बालाग्रोंका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस शङ्का और उसके समाधानका चित्रण अनुयोगद्वारकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"आह–यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभ प्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रै किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रत सामान्येनैव

समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटी कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम-का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। इन सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इस प्रकार पल्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।

वस्तुमुचितं स्यात्। सत्यं किन्तु प्रस्तुतपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते तानि च कानिचित् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगि त्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति।" पृ० १९३ पू०।

शङ्का-यदि आकाशके स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशोंका ग्रहण करना है तो वालाग्रोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि उस दशामें पूर्वोक्त पल्यके अन्दर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है?

समाधान-आपका कहना ठीक है, किन्तु प्रस्तुत पल्योपमसे दृष्टिवादमें द्रव्योंके प्रमाणका विचार किया जाता है। उनमेंसे कुछ द्रव्योंका प्रमाण तो उक्त वालाग्रोंसे स्पृष्ट आकाशके प्रदेशोंके द्वाराही मापा जाता है और कुछका प्रमाण आकाशके अस्पृष्ट प्रदेशोंसे मापा जाता है। अतः दृष्टिवादमें वर्णित द्रव्योंके मानमें उपयोगी होनेके कारण वालाग्रोंका निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है।

१ एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जति।' अनुयोग० सू० १४० पृ० १९३ पू०।

२ दिगम्बर साहित्यमें पल्योपमका जो वर्णन मिलता है वह उक्त वर्णन

से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्र पल्योपम नामका कोई भेद नहीं है और न प्रत्येक पल्योपमके बादर और सूक्ष्म भेद ही किये हैं। संक्षेपमें पल्योपमका वर्णन इस प्रकार है–

पल्य तीन प्रकारका होता है-व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों नाम सार्थक हैं–शेष दो पल्योंके व्यवहारका मूल होनेके कारण पहले पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। अर्थात् व्यवहारपल्यका केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपल्य और अद्धापल्यकी सृष्टि होती है, इसके द्वारा कुछ मापा नहीं जाता। उद्धारपल्यसे उद्धृत रोमोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी संख्या जानी जाती है, इसलिये उसे उद्धारपल्य कहते हैं। और अद्धापल्यके द्वारा जीवोंकी आयु वगैरह जाना जाती है इसलिये उसे अद्धापल्य कहते हैं। इनका प्रमाण निम्न प्रकार है–

प्रमाणाङ्गुलसे निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन गढ़ बनाओ। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके मेषके रोमके अग्रभागोंको कैंचीसे काट काट कर इतने छोटे छोटे खण्ड करो कि फिर वे कैंचीसे न काटे जा सकें। इस प्रकारके रोम खण्डोंसे पहले पल्यको खूब ठसाठस भर देना चाहिये। उस पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। उस व्यवहारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो उसे व्यवहारपल्योपम कहते हैं। व्यवहारपल्यके एक एक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा उतने खण्ड करो जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्यमें भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं। उस पल्यमें से प्रतिसमय एक एक खण्ड निकालते निकालते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उसे उद्धार पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी उद्धारपल्योपमका एक उद्धार सागरोपम होता है। अढ़ाई उद्धार सागरमें जितने रोमखण्ड होते हैं उतने

सास्वादन आदि गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त बतलाया है। अतः नीचे गाथाओंके द्वारा पुद्गल परावर्तका वर्णन करते हुए पहले उसके भेद और परिमाणको कहते हैं—

दंव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

अर्थ—पुद्गल परावर्तके चार भेद हैं—द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्त, काल पुद्गल परावर्त, और भाव पुद्गल परावर्त। इनमें से प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं—बादर और सूक्ष्म। यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी कालके बराबर होता है।

ही द्वीप और समुद्र जानने चाहियें।

उद्धारपल्यके रोमखण्डोंमेंसे प्रत्येक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा पुनः उतने खण्ड करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं। और उन खण्डों को तीसरे पल्यमें भरदो। उसे अद्धापल्योपम कहते हैं। उसमेंसे प्रति समय एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो, उस अद्धा पल्योपम कहते हैं। दस कोटी कोटी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। दस कोटी अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धापल्यसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

सर्वार्थसिद्धि पृ० १३२ त० राजवार्तिक पृ० १४८ त्रिलोकसार गा० ९३–१०२।

१ पञ्चसंग्रहमें भी पुद्गलपरावर्तके चार भेद और उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद बतलाये हैं—

'पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएण ॥ ७१ ॥

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलपरावर्तके भेद और पुद्गलपरावर्तकाल का प्रमाण सामान्यसे बतलाया है। एक पुद्गलपरावर्तकालमें अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाती हैं। इन परावर्तों का स्वरूप आगे बतलाते हैं।

पहले बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप कहते हैं—

उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि म थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

अर्थ—जितने कालमें एक जीव समस्तलोकमें रहनेवाले समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं।[1] और जितने कालमें समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

भावार्थ—गाथा ७५ ७६ के व्याख्यानमें बतला आये हैं कि यह लोक अनेक प्रकारकी पुद्गलवर्गणाओंसे भरा हुआ है। तथा, वहींपर उन वर्गणाओंका स्वरूप भी बतला आये हैं। उन वर्गणाओंमें आठ वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवके द्वारा ग्रहणकी जाती हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके

---

१ द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप पञ्चसङ्ग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाया है—

'संसारम्मि अडंतो, जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीव मुयइ बायर, अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥ ७२ ॥"

अर्थ-संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव, जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़देता है, उतने कालको बादर पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और किसी एक शरीरके द्वारा जब समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है तो उसे सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उनसे अपना शरीर, वचन, मन वगैरहकी रचना करता है। वे वर्गणाएँ हैं—औदारिकग्रहणयोग्य वर्गणा, वैक्रियग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषाग्रहणयोग्य वर्गणा, आनप्राणग्रहण योग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा। जितने समयमें एक जीव समस्त परमाणुओंको अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्मणशरीररूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। यहाँ आहारक शरीरको छोड़ दिया है, क्योंकि आहारकशरीर एक जीवके अधिकसे अधिक चार बार ही हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्तके लिये उपयोगी नहीं है।[1]

तथा, जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समयको सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। आशय यह है कि बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तमें तो समस्तपरमाणुओंको सातरूपसे भोग कर छोड़ता है और सूक्ष्ममें उन्हें केवल किसी एक रूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओंको एक औदारिकशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको वैक्रिय आदि शरीररूप ग्रहण करके छोड़दे, या समस्त परमाणुओंको वैक्रियशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको

१ 'आहारकशरीर चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ॥' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ 'एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यज्यन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूते ऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्त त एव गण्यन्ते।' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

औदारिक आदि शरीररूपसे ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते। जिस शरीररूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीररूप जो पुद्गलपरमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हींका सूक्ष्ममें ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तके बारेमें एक दूसरा मत भी है जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गलपरमाणुओंको औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन चार शरीररूप ग्रहण करके छोड़ देनेमें जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और समस्त पुद्गलपरमाणुओंको उक्त चारों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीररूप परिणमा कर छोड़ देनेमें जितना काल लगता है उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

द्रव्यपुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर अब शेष तीन पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप बतलाते हैं—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य।
जह तह कममरणेण पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अर्थ—एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंको

---

१ "अहव इमो दव्वाइ ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं।
नीसेसदव्वगहणमि बायरो होइ परियट्टो ॥ ४१ ॥"

प्रवचन० पृ० ३०७ उ०।

"एके तु आचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति"। प०कर्म० स्वोपज्ञ टी०पृ० १०३।

क्रमसे या बिना क्रमके, जैसे बने तैसे, जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहते हैं। एक जीव अपने मरणके द्वारा, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको, क्रमसे या बिना क्रमके जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, एक जीव अपने मरणके द्वारा, क्रमसे या बिना क्रमके, अनुभागबन्धके कारणभूत समस्त कषायस्थानोंका जितने समयमें स्पर्श कर लेता है उसे बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके प्रदेशोंको, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समयोंको, तथा अनुभागबन्धके कारणभूत कषायस्थानोंको क्रमसे जितने जितने समयमें स्पर्श करता है, उन्हें क्रमशः सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मकाल पुद्गलपरावर्त और सूक्ष्मभाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं। अर्थात् उक्त तीनों—प्रदेश, समय और कषायस्थानको—यदि अक्रमसे स्पर्श करता है तो बादर पुद्गलपरावर्त होता है और यदि क्रमसे स्पर्श करता है तो सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बाकीके तीनों पुद्गलपरावर्तोंके दोनों प्रकारोंका स्वरूप बतलाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

कोई एक जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरा, वही जीव, पुनः आकाशके किसी दूसरे प्रदेशमें मरा, फिर तीसरेमें मरा, इस प्रकार जब वह लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें मर चुकता है तो उतने कालको बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा कोई जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः उस प्रदेशके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेशमें मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशोंमें मरण करते करते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त होता है। इन दोनों क्षेत्रपुद्गलपरावर्तोंमें केवल इतनाही

अन्तर है कि बादरमें तो क्रमका विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यवहित प्रदेशमें मरण करनेपर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहां क्रमसे या बिना क्रमके समस्त प्रदेशोंमें मरणकर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्ममें समस्त प्रदेशोंमें क्रमसे ही मरण करना चाहिये। अक्रमसे जिन प्रदेशोंमें मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती। इससे स्पष्ट है कि पहलेमें दूसरेमें समय अधिक लगता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तके सम्बन्धमें एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीवकी जघन्य अवगाहना लोकके असंख्यातवें भाग बतलाई है। अतः यद्यपि एक जीव लोकाकाशके एक प्रदेशमें नहीं रह सकता, तथापि किसी देशमें मरण करनेपर उस देशका कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस विवक्षित प्रदेशसे दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशोंमें मरण करता है तो वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब कभी विवक्षित प्रदेशके अनन्तर जो प्रदेश है, उसीमें मरण करता है, तो वह गणनामें लिया जाता है। किन्हीं किन्हींका मत है कि लोकाकाशके जिन प्रदेशोंमें मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता।[1]

जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमवार या बिना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादर काल पुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी कालके पहले समयमें मरा, पुनः उसके दूसरे समयमें मरा, पुनः तीसरे समयमें मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त कहते

१ "अन्ये तु व्याचक्षते-यत्राकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशा गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति॥" प्रवचन० टी०, पृ० ३०९ उ०।

हैं। यहाँ भी समयोंकी गणना क्षेत्रकी तरह क्रमवार ही की जाती है, व्यवहितकी गणना नहींकी जाती। आशय यह है कि कोई जीव अवसर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोटीकोटी सागरके बीत जानेपर जब पुनः अवसर्पिणीकाल प्रारम्भ हो उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समयमें मरे तो वह द्वितीय समय गणनामें लिया जाता है। मध्यके शेष समयोंमें उसकी मृत्यु होनेपर भी वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणीके द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त न हो, किन्तु अन्य समयमें मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीतनेपर भी जब कभी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें ही मरता है, तब उस समयका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें मरण करके जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें मरण कर चुकता है, उस कालको सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

तरतम भेदको लिये हुए अनुभागबन्धस्थान असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्याके बराबर हैं। उन अनुभागबन्धस्थानोंमेंसे एक एक अनुभागबन्धस्थानमें क्रमसे या अक्रमसे मरण करते करते जीव जितने समयमें समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरण कर चुकता है, उतने समयको बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, सबसे जघन्य अनुभागबन्धस्थानमें वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरा। इसप्रकार क्रमसे जब समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरणकर लेता है तो सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्त कहलाता है। यहाँ पर भी कोई जीव सबसे जघन्य अनुभागस्थानमें मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब प्रथम अनुभागस्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरण करता है, तभी वह मरण गणनामें लिया जाता

है। किन्तु अक्रमसे होनेवाले अनन्तानन्त मरण भी गणनामें नहीं लिये जाते। इसी तरह कालान्तरमें द्वितीय अनुभागबन्धस्थानके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें जब मरण करता है तो वह मरण गणनामें लिया जाता है। इसप्रकार बादर और सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप जानना चाहिये।

जैन वाङ्मयमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका बड़ा महत्त्व है। किसी भी विषयकी चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक उसमें उस विषयका वर्णन द्रव्य, क्षेत्र वगैरहकी अपेक्षासे न किया गया हो। यहां परिवर्तन का प्रकरण है। परिवर्तनका अर्थ होता है—परिणमन अर्थात् उलटफेर, रद्दोबदल इत्यादि। कहावत प्रसिद्ध है कि यह संसार परिवर्तन या परिणमन शील है। उसी परिवर्त या परिवर्तनका वर्णन यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे किया है। द्रव्यसे यहां पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया है, क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्तके साथ हो पुद्गल शब्द लगा हुआ है, और उसके ही द्रव्यपुद्गलपरिवर्त वगैरह चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीवके परिवर्तन या संसारपरिभ्रमणका कारण एक तरहसे पुद्गल द्रव्य ही है, संसारदशामें उसके बिना जीव रह ही नहीं सकता। अस्तु, उस पुद्गलका सबसे छोटा अणु परमाणु ही यहां द्रव्य-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी क्षेत्र, काल और भाव पुद्गलपरावर्तका स्वरूप तीन गाथाओंसे इसी प्रकार बतलाया है। गाथाएँ निम्न हैं—

"लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
खेत्तम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ७३ ॥
उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ७४ ॥
अणुभागट्ठाणेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
भावम्मि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुक्कमसो ॥ ७५ ॥"

पदसे अभाव है। (वह परमाणु आकाशके जितने भागमें समाता है उसे प्रदेश कहते हैं)। और(वह प्रदेश क्षेत्र अथात् लोकाकाशका है,क्योंकि जीव लोकाकाशमही रहता है, एक अंश है)। (पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे उसीके समीपवर्ती दूसर प्रदेशमें जितने समयम पहुँचता है, उसे समय कहते हैं)। यह कालका सबसे छोटा हिस्सा है। भावसे यहां अनु भागबन्धके कारणभूत जीवके कषायरूप भाव लिय गये हैं। इन्हीं द्रव्य,क्षेत्र, काल और भावके परिवर्तनको लेकर चार परिवर्तनोंकी कल्पनाकी गई हैं। जब जीव पुद्गलके एक एक परमाणुको करके समस्त परमाणुओंको भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहलाता है। जब आकाशके एक एक प्रदेशमें मरण करके समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तवमें जब जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है जिसे इसने न भोगा हो, आकाशका एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानोंको यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसीको दृष्टिमें रखकर द्रव्य पुद्गल-परावर्त आदि नामोंसे कालका विभाग कर दिया है। जो पुद्गलपरावर्त जितने कालमें होता है उतने कालके प्रमाणको उस पुद्गल परावर्तके नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गलपरावर्तनके सिवाय अन्य किसी भी परावर्तमें पुद्गलका परावर्तन नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र पुद्गलपरावर्त-में क्षेत्रका, काल पुद्गलपरावर्तमें कालका और भाव पुद्गलपरावर्तमें भावका परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गलपरावर्तका काल अनन्त उत्स र्पिणी और अवसर्पिणी कालके बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और

भाव परावर्तका काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अत इन परावर्तोंको भी पुद्गलपरावर्त संज्ञा रख दी है।

---

१ "पुद्गलाना=परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त =परिणमन यावति काले स तावान् काल पुद्गलपरावर्त । इद च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन एकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूप लक्ष्यते । तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तना भावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तशब्द प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते ।"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ० ।

२ दिगम्बरसाहित्य में ये परावर्त पञ्चपरिवर्तनके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमश द्रव्यपरिवर्तन क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन हैं। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं–नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन । इनका स्वरूप निम्नप्रकार है–

नोकर्मद्रव्यप०–एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया और दूसरे आदि समयोंमें उनकी निर्जरा कर दी । उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण करके और अनन्तबार ग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया । इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समयमें ग्रहण किये थे, उन्हीं भावोंसे उतने ही रूप, रस गन्ध और स्पर्शको लेकर जब उसी जीवके द्वारा पुन नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं तो उतने कालके परिमाण को नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्यप०–इसी प्रकार एक जीवने एक समय में आठ कर्मरूप होनेके योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय

आवलीके बाद उनकी निर्जरा करदी। पूर्वोक्त क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे जब उसी जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने कालको कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनको मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन होता है, और दोनोंमें से एक को अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन–सबसे जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मरगया। वही जीव उसी अवगाहनाको लेकर वहां दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहनाको लेकर वहां उत्पन्न हुआ और मरगया। उसके बाद एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंको अपना जन्म क्षेत्र बना लेता है, तो उतने कालको एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कालपरिवर्तन–एक जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी होजानेके बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणीकालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ। उत्पत्तिकी तरह मृत्युका भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इसी तरह पहली अवसर्पिणीके पहले समयमें मरा, दूसरी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इस प्रकार जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको अपने जन्म और मृत्युसे स्पृष्ट कर लेता है, उतने समयका नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन—नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। कोई जीव उतनी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। मरनेके बाद नरकसे निकलकर पुन उसी आयुको लेकर दुबारा नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार दसहजार वर्षमें जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयुको लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दसहजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार एक एक समय बढाते बढाते नरक गतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यञ्चगतिको लिया। तिर्यञ्चगतिमें अन्तमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयुको लेकर पुन तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अन्त मुहूर्तमें जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद पूर्वोक्त प्रकारसे एक एक समय बढाते बढाते तिर्यञ्चगति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्यञ्चगतिकी ही तरह मनुष्यगतिका काल पूरा किया और नरक गतिकी तरह देवगतिका काल पूरा किया। देव गतिमें केवल इतना अन्तर है कि ३१ सागरकी आयु पूरी करने पर ही भव परिवर्तन पूरा हो जाता है, क्योंकि ३१ सागरसे अधिक आयुवाले देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होते ह, और वे एक या दो मनुष्य भवधारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गतिकी आयुको भोगनेम जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन—कर्मोंकी एक एक स्थितिबन्धके कारण असख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थान हैं। और एक एक कषायस्थानके कारण असख्यातलोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान ह। किसी पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध किया। उसके उस समय सबस जघन्य कषायस्थान

विस्तारसे पुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर, अब सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था । दूसरे समयमें वही स्थितिबन्ध वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा, किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बरका हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबन्ध, कषायस्थान और अनुभागस्थानके साथ श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानोंको पूर्ण किया । योगस्थानोंकी समाप्तिके बाद स्थितिबन्ध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया । उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये । इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होने पर उसी स्थितिबन्धके साथ दूसरा कषायस्थान हुआ । उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये । पुनः तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जानेपर उस जीवने एक समय अधिक अन्तः कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध किया । उसके भी कषायस्थान अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये । इस प्रकार एक एक समय बढाते बढाते ज्ञानावरणकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति पूरी की । इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है तब उतने कालको भावपरिवर्तन कहते हैं ।

इन सभी परिवर्तनोंमें क्रमका ध्यान रखा गया है । अक्रमसे जो क्रिया होती है वह गणनामें नहीं ली जाती । अर्थात् सूक्ष्म पुद्गलपरिवर्तनोंमें जो व्यवस्था है वही व्यवस्था यहां भी समझना चाहिये ।

अर्थ–थोड़ी प्रकृतियोंका बाँधनेवाला, उत्कृष्ट योगका धारक, पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है। और उससे विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियोंका बंध करनेवाला, जघन्य योगका धारक, अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

भावार्थ–इस गाथामें यद्यपि उत्कृष्ट प्रदेशबंध और जघन्य प्रदेशबंधके स्वामीका निर्देश किया है, किन्तु उनमें जिन जिन बातोंका होना आवश्यक बतलाया है, उनसे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेश बंधकी सामग्रीपर प्रकाश पड़ता है। उत्कृष्ट प्रदेशबंधके कर्ताके लिये चार बातें आवश्यक बतलाई हैं–एक तो वह थोड़ी प्रकृतियोंका बाँधनेवाला होना चाहिये, क्योंकि पहले कर्मोंके बटवारेमें लिख आये हैं कि एक समयमें जितने पुद्गलोंका बंध होता है, वे उन सब प्रकृतियोंमें विभाजित हो जाते हैं, जो उस समय बंधती हैं। अतः यदि बंधनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या अधिक होती है तो बटवारेमें प्रत्येकको थोड़े थोड़े दलिक मिलते हैं और यदि उनकी संख्या कम होती है तो बटवारेमें अधिक अधिक दलिक मिलते हैं। तथा, जैसे अधिक द्रव्यकी प्राप्तिके लिये भागीदारोंका कम होना आवश्यक है वैसेही अधिक आयका होना भी आवश्यक है। इसीलिए दूसरी आवश्यक बात यह बतलाई है कि उत्कृष्ट प्रदेशबंधका कर्ता उत्कृष्ट योगवाला भी होना चाहिये, क्योंकि प्रदेशबंधका कारण योग है और योग यदि तीव्र होता है तो अधिक संख्यामें कर्मदलिकोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और यदि मन्द होता है तो कर्मदलिकोंकी संख्यामें भी कमी रहती है। अतः उत्कृष्ट प्रदेशबंधके लिये उत्कृष्ट योगका होना आवश्यक है। तीसरी आवश्यक बात यह है कि उत्कृष्ट प्रदेशबंधका कर्ता पर्याप्तक होना चाहिये,

१ इस गाथाकी तुलना करो–

'अप्पतरपगइबन्धे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ २९८ ॥' पञ्चस०।

किन्तु वहाँ उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता। अतः शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है।

मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सास्वादन और मिश्र गुणस्थानके सिवाय मिथ्यादृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानोंमें बतलाया है। सास्वादन और मिश्र

इस प्रकारका प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारणसे सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानोंमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाकर शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध वगैरह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बतलायेंगे। इससे भी पता चलता है कि सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। इस प्रकार सास्वादनमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाकर लिखा है-- 'अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्ट प्रदेशस्वामिन मिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम्।" अर्थात् 'इस लिये जो सास्वादनको भी आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी कहते हैं, उनका मत उपेक्षाके योग्य है।' इससे पता चलता है कि कोई कोई आचार्य सास्वादनमें आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको मानते हैं।

१ मिश्र गुणस्थानमें उत्कृष्टयोग न होनेके सम्बन्धमें, निम्न युक्तियाँ स्वोपज्ञ टीकामें दी हैं। दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत गुणस्थानमें ही बतलाया है। यदि मिश्रमें भी उत्कृष्टयोग होता तो उसमें भी दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाया जाता। शायद कहा जाये कि अविरत गुणस्थानमें मिश्र गुणस्थानसे कम प्रकृतियाँ बधती हैं अतः अविरतको ही उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी बतलाया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि साधारण अवस्थामें अविरतमें भी सात ही कर्मोंका बन्ध होता है और मिश्रमें तो सात कर्मोंका बन्ध होता ही है। तथा अविरतमें भी मोहनीयकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध होता है और मिश्रमें भी उसकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध

गुणस्थानमें उत्कृष्ट योग नहीं होता, अत वहा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी नहीं होता।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण,वेदनीय,नाम, गोत्र और अन्तराय का उत्कृष्ट-प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानमें होता है। सूक्ष्मसाम्परायमें उत्कृष्टयोग तो होता ही है। तथा, वहा मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध भी नहीं होता, अत थोड़े कर्मोंका बन्ध होनेके कारण उसका ही ग्रहण किया है। तथा उत्तर प्रकृतियोंमें से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातवेदनीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तरायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानम होता है, क्योंकि ऊपर लिख आये हैं कि मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी शेष छह कर्मोंको ही मिल जाता है। तथा, दर्शनावरणका भाग उसकी चार प्रकृतियोंको और नामकर्मका भाग उसकी एक प्रकृतिको मिलजाता है, अत उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी वहीं होता है।

द्वितीय कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि करता है। इस गुणस्थानमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका बन्ध नहीं होता, अत उनका भाग भी शेषको मिल जाता है। तथा, तीसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध देशविरत गुणस्थानमें होता है, इस गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायका भी बन्ध नहीं होता, अत उनका द्रव्य भी शेषको मिलजाता है। इस प्रकार मूल प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश इस गाथामें किया है।

पण अनियट्टी सुखगइ-नराउ-सुर-सुभगतिग-विउव्विदुग।
समचउरसमसाय वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

होता है। अत मिश्रमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको न बतलानेमें उत्कृष्ट योगके अभावके सिवाय कोई दूसरा कारण प्रतीत नहीं होता।

अर्थ—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिबादर नामक गुणस्थानमें होता है। प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातवेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन तेरहप्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं। उनमेंसे पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवें गुणस्थानमें होता है क्योंकि छह नोकषायोंका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है। तथा पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति होनेके बाद संज्वलनचतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय और नोकषाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है। तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं।

निद्दा-पयला-दुजुयल भय-कुच्छा-तित्थ सम्मगो सुजई।
आहारदुग सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ—निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्थंङ्कर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अर्थात् अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

भावार्थ—निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थान

से लेकर आठवें गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले सम्यग्दृष्टि जाव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके स्त्यानर्द्धिनिकका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है, अत सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। यद्यपि मिश्रमें भी स्त्यानर्द्धिनिकका बन्ध नहीं होता, किन्तु वहा उत्कृष्ट योग भी नहीं होता अत उसका ग्रहण नहीं किया है।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्साका चौथे गुणस्थान-से लेकर आठवें गुणस्थाना तक जिन जिन गुणस्थानो में बन्ध होता है, उन गुणस्थानवाले उत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टि जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करते हैं। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इसी तरह आहारकद्विक का बन्ध भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें ही होता है। अत उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सम्यग्दृष्टिके ही बतलाया है। इस प्रकार ५४ प्रकृतियोके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाकर शेष ६६ प्रकृतियोके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही बतलाया है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक शुभद्विक, अयश कीर्ति, और निर्माण, इन पच्चीस प्रकृतियोके सिवाय शेष ४१ प्रकृतिया तो सम्यग्दृष्टिके बधती ही नहीं हैं। उनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ यद्यपि सास्वादनमे बधती हैं, किन्तु वहा उत्कृष्टयोग नहीं होता। अत ४१ प्रकृतियोका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्या-दृष्टि ही करता है। शेष पचीस प्रकृतियोंमेंसे औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नाम-कर्मके तेइसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक जीवोके ही होता है और शेष दस प्रकृतियोका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नामकर्मके पच्चीसप्रकृतिक बन्ध-

स्थानके बंधक जीवोंके ही होता है, शेषके नहीं होता। तथा तेइस और पचीस का बंध मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अतः शेष पचीस प्रकृतियों-का भी उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबंधके स्वामियोंका निर्देश किया है।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिग-सुराउ-सुर विउव्विदुग।
सम्मो जिण जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

अर्थ—सुमुनि अर्थात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्मनिगोदिया जीव प्रथम समयमें करता है।

भावार्थ—इस गाथामें जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। सामान्यसे आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं। विशेषमें, जिस समयमें आठों कर्मोंका बन्ध करते हुए वे नामकर्मके इकत्तीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करते हैं और योग भी जघन्य होता है, उस समय ही उनके आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। यद्यपि नामकर्मके तीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें भी आहारकद्विक सम्मिलित है, किन्तु इकतीसमें एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बटवारेके समय कम

१ कर्मकाण्ड गा० २११ से २१४ तकमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं।

द्रव्य मिलता है । इसलिये इकतीसप्रकृतिक बंधस्थानका निर्देश किया है। यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावतमान योग होना चाहिये।

इसी तरह परावतमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकद्विक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है, क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लेश परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके। अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये। असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावतमान योगका ग्रहण किया है, क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता। अतः परावतमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थंकर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता। अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अतः वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें तो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है अतः प्रकृतियाँ कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्कर सहित इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अतः तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थ-ङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाइसप्रकृतिक बन्धस्थानका ही बन्ध करते हैं। अतः बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाइसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अतः उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ से २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियों को बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारे में उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है–

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेते समय, पहले मोड़ में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

जीव जन्मके प्रथम समयमें करता है, क्योंकि उसके प्राय सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, तथा सबसे जघन्य योग भी उसीके होता है।

जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाते हैं—

दंसणछग-भय-कुच्छा-बि-ति-तुरियकसाय विग्घनाणाणं।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिकके सिवाय दर्शनावरणकी शेष ६ प्रकृतियाँ, भय, जुगुप्सा, दूसरा अप्रत्याख्यानावरण कषाय, तीसरा प्रत्याख्यानावरण कषाय, चौथा संज्वलन कषाय, पाँच अन्तराय और पाँच ज्ञानावरण, इन उत्तर-प्रकृतियोंके तथा मोहनीय और आयुकर्मके सिवाय छह मूलप्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों भङ्ग होते हैं। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेष तीन बन्धोंके और अवशिष्ट प्रकृतियोंके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्यबन्ध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुवभङ्गोंका स्वरूप पहले बतला आये हैं, क्योंकि प्रत्येक बन्धके अन्तर्गत मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उनका विचार किया गया है। यहाँ भी प्रदेशबन्धमें उनका विचार किया है। सबसे अधिक कर्म स्कन्धा-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्ग इसीप्रकार बतलाये हैं यथा—

'मोहाउयवज्जाणं णुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥ २९० ॥
नाणंतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुछाण।
दंसणचउपयलाणं चउव्विगप्पो अणुक्कोसो ॥ २९५ ॥
सेसा साइ अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं।'

के ग्रहण करनेको उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी हानिसे लेकर सबसे कम कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदोंमें प्रदेशबन्धके समस्त भेदोंका संग्रहण हो जाता है। तथा सबसे कम कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको जघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उसमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी वृद्धिसे लेकर अधिकसे अधिक कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अजघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदोंमें भी प्रदेशबन्धके सब भेद गर्भित हो जाते हैं।

उक्त गाथामें, दर्शनषट्क वगैरह प्रकृतियोंमें अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके चारों भङ्ग बतलाये हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है, क्योंकि एक तो वहाँ मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, दूसरे निद्रापञ्चकका भी बन्ध नहीं होता। अतः उन्हें बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करके कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें गया। वहाँसे गिरकर, दसवें गुणस्थानमें आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तो वह बन्ध सादि होता है। अथवा दसवें ही गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगके द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेके बाद जब वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि होता है। क्योंकि उत्कृष्ट योग एक, दो समयसे अधिक देर तक नहीं होता। उत्कृष्ट बन्ध होनेसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीवका वही बन्ध ध्रुव है और भव्य जीवका बन्ध अध्रुव होता है।

निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, अतः उनका भाग भी इन्हें मिलता है। उक्त गुणस्थानोंमेंसे किसी

एक गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जब जीव पुन अनुत्कृष्ट बन्ध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बन्धसे पहलेका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्साका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथेसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी पहलेकी ही तरह चार भङ्ग जानने चाहिये। इसी तरह अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सञ्ज्वलन कषाय, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तरायके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी चार-चार भङ्ग जानने चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि होता है। और उत्कृष्टबन्धके बाद जो अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, वह सादि होता है। भव्य जीवका वही बन्ध अध्रुव होता है और अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों भङ्ग होते हैं। किन्तु बाकीके उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भङ्ग बतलाते हुए यह बतला आये हैं कि अमुक अमुक प्रकृतिका अमुक अमुक गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने अपने गुणस्थानमें पहली बार होता है, अत सादि है। तथा, एक दो समय तक होकर या तो उसके बन्धका बिल्कुल अभाव ही हो जाता है, या पुन अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, अत अध्रुव है।

तथा उक्त तीस प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उसके बाद योगशक्तिके बढ़ जानेके कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। संख्यात या असंख्यात कालके बाद जब उस जीवको पुन उस भवकी प्राप्ति होती है तो पुन जघन्य प्रदेशबन्ध होता है उसके बाद पुन अजघन्य प्रदेशबन्ध होता

प्रकारके अनुभाग बन्धके कारण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। अतः योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तथा उनके कार्योंका परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाते हैं[1]—

सेढिअसखिज्जसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

अर्थ—योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। योगस्थानोंसे असंख्यातगुणे प्रकृतियोंके भेद हैं। प्रकृतियोंके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिके भेद हैं। स्थितिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंसे असंख्यातगुणे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध हैं, और कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद हैं।

भावार्थ—बन्धके निरूपणमें दो वस्तुएँ मुख्य हैं—एक बन्ध और दूसरी उसके कारण। बन्ध चार हैं किन्तु उनके कारण तीन ही हैं, क्योंकि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण एक ही है। अतः बन्धके निरूपणमें उसके परिकरके रूपसे सात चीजें आती हैं—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, कर्मस्कन्ध अर्थात् प्रदेशभेद, रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद और उनके कारण योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तथा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान। उक्त गाथामें उनमें परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है अर्थात् यह बतलाया

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी इनका अल्पबहुत्व इसी तरह बतलाया है यथा—
'सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥ २८२ ॥
ठिइबंधज्झवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥ २८३ ॥'

है कि इन सातोंमें किसकी संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है?

योगस्थानोंकी संख्या श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाई है। श्रेणिका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उसके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही योगस्थान जानना चाहिये। पीछे गा० ५३ का व्याख्यान करते हुए बतला आये हैं कि योग, वीर्य या शक्तिविशेषको कहते हैं। उसके स्थान किस प्रकार होते हैं यहां इसे समझाते हैं। पहले बतला आये हैं कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें सबसे जघन्य योग होता है, अर्थात् अन्य जीवोंकी अपेक्षासे उसकी शक्ति या वीर्यलब्धि सबसे कम है। किन्तु सबसे कम वीर्यलब्धिके धारक उस जीवके कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्यवाले हैं, कुछ उनसे अधिक वीर्यवाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्यवाले हैं। यदि सबसे कम वीर्यवाले प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेशको केवलज्ञानीके ज्ञानके द्वारा देखा जाये तो उस एक प्रदेशमें असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर भाग पाये जाते हैं। तथा उसी जीवके अत्यधिक वीर्यवाले प्रदेशको उसी प्रकार यदि अवलोकन किया जाय तो उसमें उस जघन्यवीर्यवाले प्रदेशके भागोंसे भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं। इसीके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है—

"पण्णाए अविभागं जहण्णवीरियस्स वीरियं छिण्णं ।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसंखलोगप्पएससमं ॥ ३९७ ॥"

अर्थात्—'सबसे जघन्यवीर्यवाले जीवके प्रदेशमें जो वीर्य है, बुद्धिके द्वारा उसका तबतक छेदन किया जाय जबतक अविभागी अंश न हो। एक एक प्रदेशमें ये अविभागी अंश असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर होते हैं।' वीर्यलब्धिके इन भागों या अविभागी अंशोंको वीर्यपरमाणु, भावपरमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। जीवके जिन प्रदेशोंमें ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम, किन्तु समान संख्यामें पाये जाते

हैं, उन प्रदेशोंका एक वर्ग होता है। उनमें एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी एक एक जुदी वर्गणा होती है। और, जब तक एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश पाये जाते हैं, वहां तककी वर्गणाओंके समूहको प्रथम स्पर्धक कहते हैं।) उसके बाद जो प्रदेश मिलते हैं, उनमें प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणाके प्रदेशोंमें जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, उनसे असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन जिन प्रदेशोंमें पाये जाते हैं, उनके समूहको दूसरे स्पर्धककी प्रथम वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रथम वर्गणाके ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंका समूहरूप दूसरी वर्गणा होता है। इसप्रकार एक एक अविभागी प्रतिच्छेदकी वृद्धि करते करते व वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवें भागके बराबर होती हैं। इनके समूहको दूसरा स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश नहीं मिलते, किन्तु असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश ही मिलते हैं, उनसे पहले कहे हुए क्रमके अनुसार तीसरा स्पर्धक प्रारम्भ होता है। इसी तरह चौथा, पाँचवाँ वगैरह स्पर्धक जानना चाहिये। इन स्पर्धकोंका प्रमाण भी श्रेणिके असंख्यातवें भाग है। उनके समूहको एक योगस्थान कहते हैं।

---

१ गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ४२ गाथाओंसे योगस्थानका वर्णन किया है। उसके अनुसार—

'अविभागपडिच्छेदो वग्गो पुण वग्गणाए फड्डयगं।
गुणहाणि वि य जाणे ठाणं पडि होदि णियमेण ॥ २२१ ॥'

एक योगस्थानमें अविभागी प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक और गुण हानि, ये पांच चीजें नियमसे होती हैं। अब इनका स्वरूप और प्रमाण

यह योगस्थान क्रमसे जघन्यशक्तिवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उससे कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे दूसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे तीसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे चौथा योगस्थान होता है। इस प्रकार इसी क्रमसे नाना जीवोंके अथवा कालभेदसे एक ही जीवके ये योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं।

शङ्का—जीव अनन्त है, अतः योगस्थान भी अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सब जीवों का योगस्थान जुदा जुदा ही नहीं होता, अनन्त स्थावर जीवोंके समान योगस्थान होता है, तथा असंख्यात त्रसोंके भी समान योगस्थान होता है। अतः निसदृश योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

सुनिये–

"पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे।
गुणहाणिफड्ढयाओ असंखभागं तु सेढीये ॥ २२४ ॥
फड्ढयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा।
एक्केक्कवग्गणाए असंखपदरा हु वग्गाओ ॥ २२५ ॥
एक्केक्क पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं ॥ २२६ ॥"

अर्थात्–'एक योगस्थानमें पल्यके असंख्यातवें भाग गुणहानियाँ होती हैं। एक गुणहानिमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्द्धक होते हैं। एक एक स्पर्द्धकमें उतनी ही वर्गणाएँ होती हैं। एक एक वर्गणामें असंख्यात जगत् प्रतर प्रमाण वर्ग होते हैं। और एक एक वर्ग में असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। प्रदेशोंमें जो जघन्य वृद्धि

इन योगस्थानोंसे असंख्यातगुणे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंके भेद होते हैं। यद्यपि मूलप्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ बतलाई हैं, किन्तु बंधकी विचित्रतासे एक एक प्रकृति के अनेक भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, एक अवधिज्ञान को ही ले लीजिये। शास्त्रोंमें अवधिज्ञानके बहुतसे भेद बतलाये हैं। अतः अवधिज्ञानावरणके बंधके भी उतने ही भेद होते हैं, क्योंकि बंधकी विचित्रतासे ही क्षयोपशममें अन्तर पड़ता है और क्षयोपशममें अन्तर पड़नेसे ही ज्ञानके अनेक भेद हो जाते हैं। शायद कोई कहे कि अनेक भेद होने पर भी असंख्यात भेद किस तरह हो जाते हैं? तो इसके लिये हमें पुनः अवधिज्ञानके भेदों पर एक दृष्टि डालनी होगी। सूक्ष्म पनकजीवकी तीसरे समय में जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है। और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्यक्षेत्रसे लेकर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट अवधिज्ञानके क्षेत्र तक क्षेत्रकी हीनाधिकताके कारण अवधिज्ञानके असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसलिये अवधिज्ञानके आवारक अवधिज्ञानावरण कर्मके भी बंध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसी

होती है अर्थात् जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्तिके अंशको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं।' इस रीतिसे प्रत्येकमें प्रत्येकका प्रमाण बतलाया है। इसीको यदि उलट क्रमसे कहें तो–अविभागीप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग, वर्गों का समूह वर्गणा, वर्गणाओंका समूह स्पर्द्धक, स्पर्द्धकोंका समूह गुणहानि और गुणहानियोंका समूह योगस्थान–इसप्रकार प्रत्येकका स्वरूप मालूम हो जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक प्रदेश एक एक वर्ग है, क्योंकि उसमें बहुतसे अविभागी अंश रहते हैं। गाथा २२९ की संस्कृतटीका तथा बालबोधनी भाषाटीकामें योगस्थान और उसके अङ्गोंका विस्तारसे कथन किया है, जो उपर्युक्त कथनसे विपरीत नहीं है।

प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षासे बाकी उत्तर-प्रकृतियाँ और मूल प्रकृतियोंके भी बन्ध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहाँ पर भी जीवोंके अनन्त होनेके कारण उनके बन्धो और उदयोंकी विचित्रतासे प्रकृतियोंके भी अनन्त भेद होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नाना जीवोंके भी एकसा बन्ध और एकसा उदय होता है। अतः प्रकृतियोंके विसदृश भेद असंख्यात ही होते हैं। अतः योगस्थानोंसे प्रकृतियाँ असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि एक एक योगस्थानमें वर्तमान नाना जीव या कालक्रमसे एक ही जीव इन सभी प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

तथा, प्रकृतिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिके भेद होते हैं। क्योंकि एक एक प्रकृति असंख्यात तरह की स्थितियों को लेकर बंधती है। जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी तीन समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षासे ही स्थितिके असंख्यात भेद हो जाते हैं, तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षासे प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेदोंका असंख्यातगुणा होना स्पष्ट ही है। अतः प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेद असंख्यातगुणे होते हैं।

तथा स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं। कषायके उदयसे होनेवाले जीवके जिन परिणामविशेषोंसे स्थितिबन्ध होता है, उन परिणामोंको स्थितिबन्धाध्यवसाय कहते हैं। एक एक स्थितिबन्धके कारणभूत ये अध्यवसाय या परिणाम अनेक होते हैं, क्योंकि सबसे जघन्यस्थितिका बन्ध भी असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसायोंसे होता है। अर्थात् एक ही स्थितिबन्ध किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है और किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है। ऐसा

ही आगे भी समझ लेना चाहिये। अत स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे होते हैं। तथा, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानसे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं। अर्थात् स्थितिबन्धके कारणभूत परिणामोंसे अनुभागबन्धके कारणभूत परिणाम असख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक आठ समय तक ही रहता है। अत एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमें असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं।

तथा, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि पहले बतला आये हैं कि एक जीव एक समयमें अभव्यराशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तवेंभाग कर्मस्कन्धोंको ग्रहण करता है। किन्तु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण तो केवल असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितना ही बतलाया है। अत अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध सिद्ध होते हैं।

तथा, कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद या अविभागी प्रतिच्छेद हैं। बात यह है कि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके द्वारा कर्मपुद्गलोंमें रस पैदा होता है। यदि एक परमाणुमें मौजूद रस या अनुभागशक्तिको केवल ज्ञानके द्वारा छेदा जाये तो उसमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद या रसच्छेद पाये जाते हैं। अर्थात् समस्त कर्मस्कन्धके प्रत्येक परमाणुमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक एक कर्मस्कन्धमें कर्मपरमाणु केवल सिद्धराशिके अनन्तवें भाग ही होते हैं। अत कर्मस्कन्धोंसे रसच्छेद अनन्तगुणे सिद्ध होते हैं। इसप्रकार बन्ध और उनके कारणोंका अल्पबहुत्व जानना चाहिये॥

---

१ कर्मकाण्डमें इनमेंसे केवल छहका ही परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है–

प्रदेशबन्धका विस्तारसे वर्णन करनेपर भी अभीतक उसका कारण नहीं बतलाया, अत प्रदेशबन्ध और प्रसङ्गवश पूर्वोक्त प्रकृति स्थिति और अनुभागबन्धके कारण बतलाते हैं—

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—गाथाके इस उत्तरार्द्धमें चारों बन्धोंके कारण बतलाये हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योगको बतलाया है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण कषायको बतलाया है। योग और कषायका स्वरूप पहले बतला आये हैं। योग एक शक्तिका नाम है जो निमित्त-कारणोंके मिलनेपर कर्मवर्गणाओंको कर्मरूप परिणमाती है। कर्मपुद्गलोंका अमुकपरिमाणमें कर्मरूप होना, तथा उनमें ज्ञान वगैरहको घातने आदिका स्वभाव पड़ना ये योगके कार्य हैं। तथा आये हुए कर्मपुद्गलोंका अमुक कालतक आत्माके साथ दूधपानीकी तरह मिलकर ठहरना और उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पड़ना, ये कषायके कार्य हैं। अत दो बन्धोंका कारण योग है और दो का कारण कषाय है। जबतक कषाय रहती है, तबतक चारो बन्ध होते हैं। किन्तु कषायका उपशम या क्षय होजानेपर ग्यारहवें वगैरह गुणस्थानोंमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं। इसीसे कर्मकाण्डमें कहा है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ २५७ ॥'

अर्थात् 'प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। जिनकी कषाय अपरिणत है अर्थात् उदयरूप नहीं है तथा जिनकी कषाय नष्ट होगई है, उनके स्थितिबन्धका

रसच्छेदको उसमें नहीं लिया है। देखो गा० २५८ २६०।

कारण नहीं है'। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव होजाता है, अतः वहाँ एक भी बन्ध नहीं होता है ॥

योगस्थानोंका प्रमाण श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाया है। अतः श्रेणिका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। किन्तु लोक और उसके घनफल का कथन किये बिना श्रेणिका स्वरूप नहीं बतलाया जासकता, अतः श्रेणिके साथ ही साथ घन और प्रतरका स्वरूप भी कहते हैं—

चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

अर्थ—लोक चौदह राजु ऊँचा है, और बुद्धिके द्वारा उसका समीकरण करनेपर वह सातराजुके घनप्रमाण होता है (सातराजु लम्बी आकाशके प्रदेशोंकी पङ्क्तिको श्रेणि कहते हैं) और उसके वर्गको प्रतर कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें प्रसङ्गवश लोक, श्रेणि और प्रतरका स्वरूप बतलाया है। गाथामें 'चउदसरज्जू लोओ' लिखा है, जिसका आशय है कि लोक चौदह राजु है। किन्तु यह केवल उसकी ऊँचाईका ही प्रमाण है। लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया है। जो इस प्रकार है—

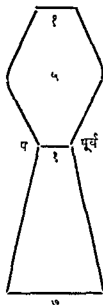
---

१ त्रिलोकसार में लिखा है—

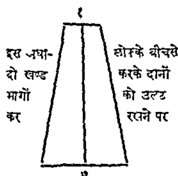
'उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसचयसण्णिहो हवे लोगो ।
अद्धुदओ मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥ ६ ॥'

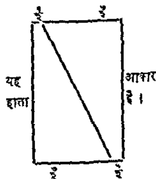
अर्थात् खड़ा करके आधे मृदङ्ग के ऊपर रखे हुए पूरे मृदङ्ग के समान लोक का आकार जानना चाहिये। उसका मध्य भाग ध्वजाओं के समूह के सदृश अनेक प्रकार के द्रव्योंसे भरा हुआ है। अधोलोक आधे मृदङ्ग के आकार है और ऊर्ध्वलोक पूरे मृदङ्ग के आकार है। तथा सबलोक चौदह राजु ऊंचा है।

इसके नीचेका भाग पूर्व-पश्चिम सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पुन बढ़ते बढ़ते १०।। राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर घटते घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता बढ़ता हुआ है। सब ७ राजु मोटाई है। इस की चौड़ाई मोटाई और ऊँचाईका यदि बुद्धिके द्वारा समीकरण किया जाये तो वह सात राजु के घन के बराबर होता है।

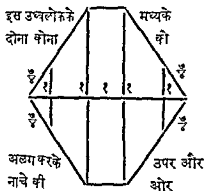


इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जाये तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सबत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—

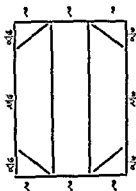




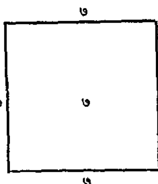
अब उर्ध्वलोकको लीजिये—उर्ध्वलोकका मध्यभाग पूर्वपश्चिममें ५ राजु चौड़ा है। उसमेंसे मध्यके तीन राजु क्षेत्रको ज्योंका त्यों छोड़कर दोनों ओरसे एक एक राजुके चौड़े और साढ़े तीन साढ़े तीन राजुके ऊँचे दो त्रिकोण खण्ड लेने चाहियें। उन दोनों खण्डोंको मध्यसे काटनेपर चार त्रिकोण खण्ड होजाते हैं, जिनमेंसे प्रत्येक खण्डकी भुजा एक राजु और कोटि पौने दो राजु होती है। उन चारों खण्डोंको उलटा सुल्टा करके उनमेंसे दो खण्ड उर्ध्वलोकके अधोभागमें दोनों ओर, और दो खण्ड उसके उर्ध्वभागके दोनों ओर मिलादने चाहिये। ऐसा करनेसे उर्ध्वलोककी ऊँचाइमें तो कोइ अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजु होजाता है। जैसे—



इस तरह मिलाओ



उर्ध्वलोकके इस नये आकारको अधोलोकके नये आकारके साथ मिलादेनेपर सात राजु चौड़ा, सात राजु ऊँचा और सात राजु मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अतः ऊँचाई चौड़ाई और मोटाई, तीनों सात सात राजु होनेके कारण लोक सात राजु का घनरूप सिद्ध होता है।



लोक तो वृत्त है और यह घन समचतुरस्ररूप होता है। अतः वृत्त करनेके लिये उसे १९ से गुणा करके बाइससे भागदेना चाहिये। तब वह कुछ कम सात राजू लम्बा, चौड़ा और गोल होता है। किन्तु व्यवहारमें सात राजुका चतुरस्र घनलोक जानना चाहिये।

(सात राजु लम्बी आकाशके एक एक प्रदेशकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं।) जहाँ कहीं श्रेणिके असंख्यातवें भागका कथन हो वहाँ यही श्रेणि लेना चाहिये। श्रेणिके वर्गको प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणिमें जितने प्रदेश हों, उनको उतने ही प्रदेशोंसे गुणा करनेपर प्रतरका प्रमाण आता है। अथवा सात राजु लम्बी और सात राजु चौड़ी एक एक प्रदेशकी पंक्तिको प्रतर कहते हैं।। तथा, प्रतर और श्रेणिको परस्परमें गुणा करनेपर घन या घन लोक होता है। इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घनलोकका प्रमाण जानना चाहिये।।



---

१ पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीका में भी श्रेणिका यही स्वरूप बतलाया है। यथा—'लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिः।' पृ० १००।

राजु का प्रमाण त्रिलोकसार में 'जगसेढिसत्तभागो रज्जु' (गा० ७) लिखकर श्रेणि का सातवें भाग बतलाया है। तथा द्रव्यलोक० में प्रमाणाङ्गुल से निष्पन्न असंख्यात कोटीकोटी योजनका एक राजु बतलाया है। यथा-'प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः। असंख्यकोटीकोटीभिरेका रज्जुः प्रकीर्तिता ॥ ६४ ॥ १ स०।

२ प्रतर से आशय वर्ग का है। समान दो संख्याओंको आपसमें गुणा करने पर जो राशी उत्पन्न होती है वह उस संख्या का वर्ग कहलाती है। जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं। तथा समान तीन संख्याओं का परस्पर में गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७ का घन ७×७×७= ३४३ होता है।

२१ उपशमश्रेणिद्वार

'नमिय जिणं धुवबन्धो' आदि पहली गाथामें जिन जिन विषयोंका नाम लेकर उनका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन विषयोंका वर्णन तो किया जा चुका। अब उसी पहली गाथामें आये हुए 'च' शब्दसे जिन उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिका ग्रहण किया गया है, उनमेंसे पहले उपशमश्रेणिका कथन करते हैं–

अण-दंस-नपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥[1]

अर्थ–पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक एक संज्वलन कषायका अन्तर देकर दो दो सदृश कषायोंका एक साथ उपशम करता है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम करके संज्वलन क्रोधका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम करके संज्वलन मानका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम करके संज्वलन मायाका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करके संज्वलन लोभका उपशम करता है।

भावार्थ–पहले लिख आये हैं कि सातवें गुणस्थानसे आगे दो

---

१ यह गाथा आवश्यकनियुक्ति से ली गई जान पड़ती है। उसमें भी यह इसी प्रकार है–

'अण दंस नपुंसित्थीवेय-छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ११६ ॥'

श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—एक उपशमश्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका उपशम किया जाता है, इसीसे उसे उपशमश्रेणि कहते हैं। ग्रन्थकारने इस गाथामें मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम करनेका क्रम बतलाया है। सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम होता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकारसे है—

चौथे, पाँचवे, छठे और सातवे गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करनेके लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरणमें प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और उसकी वजहसे शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी वृद्धि तथा अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी हानि होती है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि अथवा गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरणका अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है। इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध, ये पाँच कार्य होते हैं। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें कर्मोंकी जो स्थिति होती है, स्थितिघातके द्वारा उसके अन्तिम समयमें वह संख्यातगुणा कर दी जाती है। रसघातके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणिरचनामें[1] प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर, ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदयावलीके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमें उनका निक्षेप कर दिया जाता है। अर्थात् पहले समयमें जो दलिक लिये जाते हैं, उनमेंसे सबसे कम दलिक प्रथम समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे भी असंख्यात गुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कालके

१ गा० ८२ ८३ में गुणश्रेणी का स्वरूप बतलाया है।

अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयोंमें भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि गुणश्रेणिकी रचनाके लिये पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे थोड़े होते हैं। और उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकोंका निक्षेप, अवशिष्ट समयोंमें ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपरके समयोंमें नहीं किया जाता।

गुणसंक्रमके द्वारा अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके थोड़े दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही स्थितिबन्ध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है। अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समयसे ही पूर्वोक्त पाँच कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर जब एक भाग बाकी रहता है तो अनन्तानुबन्धी कषायके एक आवली प्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़कर बाकी निषेकोंका उसी तरह अन्तरकरण किया जाता है जैसे कि पहले[1] मिथ्यात्वका बतलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँसे उठा उठाकर बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरणके प्रारम्भ होनेपर, दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी कषायके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंका उपशम किया जाता है। पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है, तीसरे समयमें

---

१ गा० १० में।

सम्बन्धमें वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानमें सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियोंका गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरणके कालमेंसे सख्यातवाँ भाग बीत जानेपर निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। उसके बाद और भी काल बीतनेपर सुरद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति वगैरह तीस प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद होता है। तथा अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्धविच्छेद होता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे सख्यात भाग बीत जानेपर चारित्र मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। जिन कर्मोंका उस समय बन्ध और उदय होता है, उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है। जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढने वाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका उस समय केवल उदय ही होता है, बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थितिमें नहीं। जैसे स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़ने वाला स्त्रीवेदका। जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उस समय केवल बन्ध ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका द्वितीयस्थितिमें ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे सज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला शेष संज्वलन कषायोंका। किन्तु जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको अन्य प्रकृतियोंमे क्षेपण करता है। जैसे द्वितीय और तृतीय कषायका। अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुसकवेदका उपशम करता है।[1]

---

१ आवश्य० नि० गा० ११६ की टीका के, तथा विशेषा० भा० गा० १२८८ के अनुसार यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीवकी अपेक्षासे बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेदके उदयसे कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुसकवेदका उपशम करता है। फिर क्रम

से पुरुषवद, हास्यादिषट्क और स्त्रीवेदका उपशम करता है। तथा यदि नपुंसकवेदके उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेदका उपशम करता है उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद हास्यादिषट्क और नपुंसक वेद का उपशम करता है। साराश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है। जैसा कि विशेषा० भा० में लिखा है—

"तत्तो य दंसणतिगं तओऽणुइण्ण जहन्नयरवेयं।

तत्तो बीयं छक्क तओ य वेयं सयमुदिन्नं ॥१२८८॥"

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है। उसके पश्चात् अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके पश्चात् दूसरे वेदका उपशम करता है। उसके पश्चात् हास्यादिषट्कका उपशम करता है। उसके पश्चात् जिस वेदका उदय होता है उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृतिमें इस क्रमको इस प्रकार बतलाया है—

'उदयं वज्जिय इत्थी इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त।

तह वरिसवरी वरिसवरित्थिं समगं कमारद्धे ॥ ६५ ॥' उपशमना०

अर्थात्—यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुंसकवेद का उपशम करती है उसके बाद चरमसमयमात्र उदयस्थितिको छोड़कर स्त्री वेदके शेष सभी दलिकोंका उपशम करती है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करती है। तथा यदि नपुंसक उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदयस्थितिको छोड़कर शेष नपुंसक वेदका तथा स्त्रीवेदका एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुष वेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है।

लब्धिसारमें भी कर्मप्रकृतिके अनुरूप ही विधान है। देखो गा० ३६१-३६२।

उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादिषट्कका उपशम करता है। हास्यादिषट्कका उपशम होते ही पुरुषवेदके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। हास्यादिषट्ककी उपशमनाके अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्रमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। जिस समयमें हास्यादिषट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। जब संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक आवलिका काल शेष रह जाता है तो संज्वलन क्रोधके बंध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिगत एक आवलिकाको और ऊपरकी स्थितिगत एक समय कम दो आवलिकामें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समयमें संज्वलन क्रोधके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको ले लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करनेके प्रथमसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मानका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका संज्वलन मानमें प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया वगैरहमें किया जाता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मानके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिगत एक

आवलिका और एक समय कम दो आवलिकामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत कर्मदलिकाको छोड़कर शेष दलिकोंका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मानका उपशम करता है। जिस समयमें संज्वलन मानके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्तप्रकारसे प्रथम स्थिति करता है और उसी समयसे लेकर तीनो मायाका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका संज्वलन मायामें प्रक्षेप नहीं करता, किन्तु संज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिकामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत दलिकोंको छोड़कर शेषका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मायाका उपशम करता है। जब संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन लोभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्थिति करता है। लोभका जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थितिका काल रहता है। प्रथम त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है। अर्थात् पहलेके स्पर्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर उन्हें अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकों और अपूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अनन्त कृष्टि करता है, अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीनरस करके उन्हें अन्तरालसे स्थापित कर देता है। कृष्टिकरणके कालके

अन्त समयमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करता है। उसी समयमें संज्वलन लोभके बन्धका विच्छेद होता है और बादर संज्वलन लोभके उदय तथा उदीरणाका विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें गुणस्थानका अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवाँ सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान होता है। सूक्ष्मसाम्परायका काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आकर ऊपरकी स्थितिसे कुछ दलिकोंको लेकर सूक्ष्मसाम्परायके कालके बराबर प्रथम स्थिति करता है, और एक समय कम दो आवलिकालमें बँधे हुए हीन दलिकोंका उपशम करता है। सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमें संज्वलन लोभका उपशम हो जाता है। उसी समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। अनन्तर समयमें ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तकषाय हो जाता है। इस गुणस्थानमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंका उपशम रहता है।

शङ्का—सातवें गुणस्थानवर्ती जीव ही उपशमश्रेणिका प्रारम्भ करता

---

१ लब्धिसार गा० २०५-३९१ में उपशम का विधान विस्तार से किया है जो प्रायः उक्त वर्णन से मिलता जुलता है। किन्तु उसमें अनन्तानुबन्धी के उपशम का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उस प्रकार विसंयोजना ही मानी है। जैसा कि उसमें लिखा भी है—

'उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अण विजोयित्ता ॥ २०५ ॥'

अर्थात् 'उपशमचारित्रके अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके' इत्यादि।

२ इस शङ्का-समाधानके लिये विशेषावश्यक भा० गा० १२९५-१३०३ देखना चाहिये।

३ इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है। यथा—

"अन्ने भणंति अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं।

है, और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम करनेपर सातवाँ गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय होते हुए सम्यक्त्व वगैरहकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। ऐसी दशामें उपशम श्रेणिमें पुन उनका उपशम बतलानेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्रकी प्राप्ति उक्त प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होती है और वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही उपशम-श्रेणिमें उपशम सम्यक्त्व होता है। अत उपशम श्रेणिका प्रारम्भ करनेसे पहले उक्त प्रकृतियोंका क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

शङ्का—उदयमें आये हुए कर्म दलिकोंका क्षय, और सत्तामें विद्यमान कर्मदलिकोंका उपशम होनेपर क्षयोपशम होता है। अत उपशम और क्षयोपशममें अन्तर ही क्या है?

अन्नयरो पडिवज्जइ दसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥१२९१॥' विशे०भा०
अर्थात्–'अन्य आचार्योंका कहना है कि अविरत देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशमश्रेणि चढता है।

इस मत भेदका कारण सम्भवत यह मालूम पड़ता है कि, जिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम से, या यू कहना चाहिये कि द्वितीय उपशम सम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ माना है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंको उपशमश्रेणिका प्रारम्भक मानते हैं क्योंकि उपशमसम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों म ही प्राप्त किया जाता है। किन्तु जो चारित्रमोहनीय के उपशम से या यू कहना चाहिये कि उपशम चारित्रकी प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नसे उपशमश्रेणिका प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थानमें ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय इस दूसरे मतको ही मानता है।

उत्तर—क्षयोपशममें घातक कर्मोंका प्रदेशोदय रहता है किन्तु उपशममें उनका किसी भी तरहका उदय नहीं होता ।

शङ्का—यदि क्षयोपशमक होनेपर भी अनन्तानुबन्धी कषाय वगैरहका प्रदेशोदय होता है, तो सम्यक्त्व वगैरहका घात क्यों नहीं होता ?

उत्तर—उदय दो तरहका होता है—एक फलोदय और दूसरा प्रदेशोदय । फलोदय होनेसे गुणका घात होता है, किन्तु प्रदेशोदय अत्यन्त मन्द होता है अतः उससे गुणका घात नहीं होता । अतः क्षयोपशम और उपशममें अन्तर होनेके कारण उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धी वगैरहका उपशम किया जाता है । सारांश यह है कि उपशम श्रेणिमें मोहनीयकर्मकी समस्त प्रकृतियोंका पूरी तरहसे उपशम किया जाता है । उपशम कर देनेपर उस कर्मका अस्तित्व तो बना ही रहता है, जैसे गंदले पानीमें भरे हुए घड़ेमें फिटकरी वगैरह डाल देनेसे, पानीकी गाद उसके तलमें बैठ जाती है । पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्योंकी त्यों मौजूद रहती है । उसी तरह उपशम श्रेणिमें जीवके भावोंको कलुषित करनेवाला प्रधान मोहनीय कर्म शान्त कर दिया जाता है । अपूर्वकरण वगैरह परिणाम ज्यों ज्यों ऊँचे उठते जाते हैं, त्यों त्यों मोहनीयरूपी धूलिके कणस्वरूप उसकी उत्तर प्रकृतियां एकके बाद एक शान्त होती चली जाती हैं । इसप्रकार उपशम की गई प्रकृतियोंमें न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जासकता है, और न उन्हें बढ़ाया जासकता है । न उनका उदय या उदीरणा हो

---

१ "तथा चोक्तमागमे- एवं खलु गोयमा ! मए दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा-पएसकम्मे य अणुभावकम्मे य । तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ । तत्थ णं जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थे गइयं वेदेइ, अत्थेगतियं नो वेएइ' । भग० ।" विशेषा० भा० कोट्या० टी० पृ० १८२ ।

सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृतिरूप ही किया जासकता है। उपशम करनेका ये ही लाभ हैं। किन्तु उपशम तो केवल अन्तर्मुहूर्त कालके लिये किया जाता है। अतः दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है, तो कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके बाद, शान्त हुई कषायें उसी तरह उठ खड़ी होती हैं, जैसे शहरमें उपद्रव करनेवाले गुण्डे पुलिसको आता देख कर इधर उधर छिप जाते हैं, किन्तु उसके जाते ही प्रकट होकर पुनः उपद्रव मचाना शुरू कर देते हैं। फल यह होता है कि वह जीव जिस क्रमसे ऊपर चढ़ा था उसी क्रमसे नीचे उतरना शुरू कर देता है और ज्यों ज्यों नीचे उतरता जाता है त्यों त्यों, चढ़ते समय जिस जिस गुण स्थानमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति की थी, उस उस गुण स्थानमें आनेपर वे पुनः बंधने लगती हैं। उतरते उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है और यदि वहां भी अपनेको नहीं सम्हाल पाता तो पांचवे और चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है। यदि अनन्तानुबन्धीका उदय आजाता है तो सासादन[3] सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्वमें पहुँच जाता है। और इस

---

१ "अन्यत्राप्युक्तम्–'उवसंतं कम्मं जं न तओ कढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु ॥१॥'
पञ्च० कर्मग्रन्थ स्वो० टी०पृ०१३१।

२ 'उवसाम उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे ॥११८॥' आव०नि०।

अर्थात्–गुणवान् पुरुषके द्वारा उपशान्तकी गई कषाय जिन भगवानके सदृश चारित्रवाले व्यक्तिको भी पतन करा देती है, फिर अन्य सरागी पुरुषोंका तो कहना ही क्या है ?

३ विशे० भा० में लिखा है–
"पडिवइसाणो सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥ १२९० ॥"

तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है। किन्तु यदि छठे गुणस्थानमें आकर सम्हल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ़ सकता है, क्योंकि एक

थोव्याचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—" 'पतन्पतमान' तथा प्रतिपतन् स यावत् अप्रमत्तसंयतो वा स्यात्, प्रमत्तो वा, अविरतसम्यग्दृष्टिर्वा, वा शब्दात् सासादनमपि गच्छेत्'।

अर्थात्—श्रेणी से गिरकर अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसंयत, (देशविरत) या अविरतसम्यग्दृष्टि होता है। 'वा' शब्द से सम्यक्त्व को भी छोड़ देता है।

बृहद्वृत्तिमें लिखा है—'अत्र समाप्तौ च निवृत्तो-अप्रमत्तगुणस्थाने प्रमत्तगुणस्थाने वा अवतिष्ठते। कालगतस्तु देवेष्वविरतो वा भवति। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु प्रतिपतितोऽसौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति।'

अर्थात्—'श्रेणि की समाप्ति पर वहाँ से लौटते हुए जीव सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है। किन्तु यदि मर जाता है तो मरकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो श्रेणिसे गिरकर जीव पहले गुणस्थान तक भी जाता है।' इससे पता चलता है कि सम्यक्त्व का वमन करने में सिद्धान्तशास्त्रियों और कर्मशास्त्रियों में मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्यों में भी इस विषय में मतभेद है। यह बात लब्धिसार की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है। उपशमसम्यक्त्वका काल बतलाते हुए लिखा है—

'चडणोदरकालादो पुव्वादो पुव्वगोत्ति संखगुणं।
कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं॥ ३४७॥
तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देससंजमं वापि।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि॥ ३४८॥
जदि मरदि सासणो सो णिरयतिरक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण॥ ३४९॥

भवमें दो बार उपशम श्रेणि चढनेका विधान पाया जाता है। किन्तु दो बार उपशम श्रेणि चढनेपर वह जीव उसी भवमें क्षपकश्रेणि नहीं चढ सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह दूसरी बार क्षपक श्रेणि

णरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदु।
तम्हा तिसुवि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥ ३५० ॥"

अर्थात्—चढ़ते समय अपूर्वकरणके प्रथम समय से लेकर उतरते समय अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त, जितना काल लगता है, उससे संख्यातगुणा काल द्वितीय उपशम सम्यक्त्वका होता है। इसमें अधःप्रवृत्तका काल भी समझ लेना चाहिये। यह काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस कालमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने पर जीव देशसंयम को प्राप्त करता है अथवा अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय होनेपर असंयम को प्राप्त होता है। तथा छह आवली काल बाकी रह जानेपर अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यदि सासादनदशामें वह मरण करता है, तो नियमसे देव ही होता है ऐसा यतिवृषभाचार्य का मत है, क्योंकि नरकायु तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु (परभव की अपेक्षासे) की सत्तावाला मनुष्य चारित्र मोहनीयका उपशम नहीं कर सकता।' इस प्रकार यतिवृषभाचार्य के मतसे सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति बतलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बतलाते हुए लिखते हैं—

'उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥ ३५१ ॥"

अर्थात्—भूतबलि स्वामी के निर्मल सूत्र (महाकर्म प्रकृति) के स्पष्ट उपदेश के अनुसार जीव उपशमश्रेणि से उतरकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।'

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा ६४, पञ्चस० गा० ९३ (उपशम०)

भी चढ़ सकता है। किन्तु यह कर्मशास्त्रियोंका मत है। सिद्धान्तशास्त्रियों-के मतसे तो एक भवमें एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ता है। इसप्रकार उपशम श्रेणिका स्वरूप जानना चाहिये।



२२. क्षपकश्रेणिद्वार

उपशमश्रेणिका वर्णन करके अब क्षपकश्रेणिका वर्णन करते हैं—

अण मिच्छ मीस सम्म तिआउ इग-विगल-थीणतिगु-ज्जोयं।

१ उक्तं सप्ततिकाचूर्णौ—

'जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवग सेढी हुज्ज त्ति। पञ्च० कर्मग्र० टी०, पृ १३२।

२ तम्मि भव निव्वाणं न लभइ उक्कोसओ व संसार।

पोग्गलपरियट्टद्धं देसूणं कोइ हिंडेज्जा ॥ १३१५ ॥" विशे० भा०।

अर्थात्—उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता, और कोई कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं।

लब्धिसार में लिखा है कि जीव उपशम श्रेणिमें अध करण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है। उसके बाद यदि पुनः विशुद्ध परिणाम होते हैं तो पुनः ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है। और यदि संक्लेश परिणाम होते हैं तो नीचे के गुणस्थानोंमें आता है।

यथा— 'अद्धाखये पडतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण।

सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो ॥ ३१० ॥"

३ आवश्यकनिर्युक्ति (म० भा०) में इन प्रकृतियोंको इस प्रकार गिनाया है—

तिरि-नरय थावरदुग साहारा-यव-अड-नपु-त्थीए ॥ ९९ ॥
छग-पु-संजलणा-दोनिद्द-विग्घ-वरणक्खए नाणी ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मनुष्यायुके सिवाय बाकीकी तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय (दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियजाति), स्त्यानर्द्धि आदि तीन, उद्योत, तिर्यञ्चगति और तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति और नरकानुपूर्वी, स्थावर और सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनकषाय, दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण, इन ९३ प्रकृतियोंका क्षय करनेपर जीव केवलज्ञानी होता है।

भावार्थ—पहले लिख आये हैं कि क्षपकश्रेणिमें मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका मूलसे नाश किया जाता है। इसीसे उसे क्षपकश्रेणि कहते हैं। अर्थात् उपशमश्रेणिमें तो प्रकृतियोंके उदयको शान्त कर दिया जाता है, प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु वे अन्तर्मुहूर्तके लिये अपना फल वगैरह नहीं दे सकता। किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है। अतः उनके पुनः उदय होनेका भय नहीं रहता, और इसी कारणसे क्षपकश्रेणिमें पतन नहीं होता। उक्त गाथामें उन प्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं, जिनका क्षपकश्रेणिमें क्षय किया जाता है। क्षपणका क्रम निम्न प्रकार है—

'अण मिच्छ-मीस-सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेय छक्कं च ।
पुमवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणे ॥ १२१ ॥
गइ आणुपुव्वि दो दो जातीनामं च जाव चउरिंदी ।
आयाव उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च ॥ १२२ ॥
साहारमपज्जत्तं निद्दानिद्दं च पयलपयलं च ।
थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ १२३ ॥'

आठ वर्षसे अधिक आयुवाला, उत्तम संहननका धारक, चौथे, पाँचवे, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ करता है । सबसे पहले वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका एक साथ नाश करता है, और उसके शेष अनन्तवें भागको मिथ्यात्वमें स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंशका एक साथ नाश करता है । उसके बाद इसी प्रकार क्रमशः सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करता है । जब सम्यक्मिथ्यात्वकी स्थिति एक आवलिकामात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीयकी स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है । उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खण्ड कर करके खपाता है । जब उसके अन्तिम स्थितिखण्डको खपाता है तब उस क्षपकको कृतकरण कहते हैं । इस कृतकरणके काल

---

१ पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाण ।
अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥१३२१॥ विशे० भा० ।
दिगम्बर सम्प्रदायमें चारित्रमोहनीयके क्षपणसे ही क्षपकश्रेणि ली जाती है जैसा कि उपशमश्रेणिके बारेमें भी लिख आये हैं । अतः यहाँ क्षपकश्रेणिका आरोहक सप्तम गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही माना जाता है ।

२ "पढमकसाए समयं खवेइ अंतोमुहुत्तमेत्तेण ।
तत्तो च्चिय मिच्छत्तं तओ य मीसं तओ सम्मं ॥१३२२॥" विशे०

३ लब्धिसार में दर्शनमोह की क्षपणा के बारे में लिखा है—
'दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।
तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥ ११० ॥
णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य ।
किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥ १११ ॥"
अर्थात्—कर्मभूमि का मनुष्य तीर्थङ्कर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूल में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है । अधःकरणके प्रथम समयसे लेकर जब तक मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीयका द्रव्य

में यदि कोइ जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षेपक श्रेणिका प्रारम्भ बद्धायु जीव करता है, तो अनन्तानुबन्धीके क्षयके पश्चात् उसका मरण होना सभव है। उस अवस्थामें मिथ्यात्वका उदय होनेपर वह जीव पुन अनन्तानुबन्धीका बन्ध करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धी नियमसे बधती है। किन्तु

सम्यक्त्व प्रकृतिरूप सक्रमण करता है तब तकके अन्तमुहूर्त कालको दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भक काल कहा जाता है। और उस प्रारम्भ कालके अनन्तर समयसे लेकर क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पहले समय तक का काल निष्ठापक कहा जाता है। सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहाँ ही, अथवा सौधर्मादि स्वर्गोंमें, अथवा भोग भूमिमें, अथवा घर्मा नामके प्रथम नरकमें होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

सम्भवत ऊपर लिखे 'कृतकरण' कहा है उसे ही दिगम्बर सम्प्रदायमें 'कृतकृत्य' कहते हैं। जो इस बात को बतलाता है कि उस जीवन अपना कार्य कर लिया, अत वह कृतकृत्य हो गया। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जाव अधिकसे अधिक चौथे भवमें नियमसे मोक्ष चला जाता है। कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है। इस अन्तर्मुहूर्तमें यदि मरण हो तो—"देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउगईसुपि।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥५६२॥" कर्मकाण्ड

उसके प्रथम भागमें मरनेपर देवगतिमें, दूसरे भागमें मरनेपर देव और मनुष्यगतिमें, तीसरे भागमें मरनेपर देव, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें, और चौथे भागमें मरनेपर चारों गतिमें कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है।

१ "बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।

तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥१३२३॥विशे०भा०

मिथ्यात्वका क्षय हाजानेपर पुन अनन्तानुबन्धीके बन्धका भय नहीं रहता। बद्धायु होनेपर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता, तो अन न्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहका क्षपण करनेके बाद वह वहीं ठहर जाता है, चारित्र मोहनीयके क्षपण करनेका यत्न नहीं करता। किन्तु यदि अबद्धायु होता है तो वह क्षपक श्रेणिको समाप्त करके केवलज्ञानको प्राप्त करता है, और फिर मुक्त हो जाता है। अत क्षपक श्रेणिको समाप्त करने वाले मनुष्यके देवायु, नरकायु और तिर्यञ्चायुका अभाव तो स्वत ही होता है। तथा पूर्वोक्त क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि चार तथा दर्शनत्रिकका क्षय चौथे आदि चार गुण स्थानोंमें कर देता है। उसके पश्चात् चारित्र मोहनीय का क्षय करनेके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता है।

इन तीनों करणोंका स्वरूप तथा कार्य पहले उपशम श्रेणीके वर्णनमें बतला ही आये हैं। यहाँ अपूर्वकरणमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा अप्रत्या ख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायकी आठ प्रकृतियोंका इस तरह क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें उनकी स्थिति पल्य के असंख्यातवें भागमात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग बीत जानेपर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थिति उद्वलना संक्रमणके द्वारा उद्वलना होनेपर पल्यके असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। उसके बाद गुणसंक्रमके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंमें उनका प्रक्षेप कर करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयका प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वह क्षीण नहीं होती है, अतराऊमें ही पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षपण किया जाता

१ 'बद्धाऊपडिवन्नो नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ।
इयरो णुवरओ च्चिय सयलं सेढिं समाणेइ ॥१३२३॥" विशे० भा०।

है । उनके क्षयके पश्चात् उन आठ कषायोंका भी अन्तमुहूर्तमें ही क्षय कर देता है। उसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायोंमें अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायोंका क्षपण करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन खण्ड करके दो खण्डोंका एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन क्रोधमें मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके लिये है। यदि[2] स्त्री श्रेणि-

१ किसी किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है, उनके मध्यमें आठ कषायका क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। देखो, पं० कर्म० प्र० टी० पृ० १३५ और कर्मप्रकृ० सत्ताधि० गा० ५५ की यशो० टी०। कर्मकाण्डमें इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"णत्थि अण उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं ॥ ३९१ ॥"

अर्थात्-'उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धिका सत्त्व नहीं होता। और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायों का क्षपण करके पश्चात् सोलह वगैरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।'

२ पञ्चसंग्रह में लिखा है–

"इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा।
अपुमोदयंमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥ ३९६ ॥"

अर्थ–स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर पहले नपुंसकवेदका क्षय होता है, फिर स्त्रीवेदका क्षय होता है, फिर पुरुष वेद और हास्यादिषट्का क्षय होता है। नपुंसकवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिषट्कका क्षय होता है।

कर्मकाण्ड गा० ३८८ से भी इसी क्रम को बतलाया है।

पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेदका क्षपण करती है। उसके बाद क्रमसे पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्री वेदका क्षपण करती है। तथा यदि नपुंसक श्रेणिपर आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेदका क्षपण करता है, उसके बाद क्रमसे पुरुषवेद छह नोकषाय और नपुंसकवेदका क्षपण करता है। सारांश यह है जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसका क्षपण अन्तमें होता है। वेदके क्षपणके बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभका क्षपण उस प्रकारसे करता है। अर्थात् संज्वलन क्रोधके तीन खण्ड करके दो खण्डोंको तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन मानमें मिला देता है। इसप्रकार मानके तीसरे खण्डको मायामें मिलाता है और मायाके तीसरे खण्डको लोभमें मिलाता है। प्रत्येकके क्षपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है तथा श्रेणिका काल भी अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। लोभ कषायके भी तीन खण्ड करके दो खण्डोंको तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्डके संख्यात खण्ड करके चरम खण्डके सिवा शेष खण्डोंको भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। फिर उस चरम खण्डके भी असंख्यात खण्ड करके उन्हें दसवें गुणस्थानमें भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। इसप्रकार लोभकषायका पूरी तरहसे क्षय होनेके अनन्तर समयमें क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थानके कालके संख्यात भागोंमेंसे एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीयकर्मके सिवा शेषकर्मोंमें स्थितिघात वगैरह पूर्ववत् होते हैं। उसमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और दो निद्रा, इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थितिको क्षीणकषायके कालके बराबर करता है, केवल निद्राद्विककी स्थितिको एक समय कम करता है। इनकी स्थिति बराबर होते ही इनमें स्थितिघात वगैरह कार्य होने बन्द हो जाते हैं, शेष प्रकृतियोंमें होते रहते हैं। क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें निद्राद्विकका क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियोंका अन्तिम समयमें क्षय करता है।

उसके अनन्तर समयमें वह सयोगकेवली हो जाता है[२]।

१ विशे० भा० में इस क्रमको चित्रण करते हुए लिखा है—

'दसणमोहखवणे नियट्टि अणियट्टि बायरो परओ।
जाव उ सेसो सजलणलोभमसखेज्जभागोत्ति ॥ १३३८ ॥
तदसखेज्जइभाग समए समए खवेइ एक्केक्क।
तत्थइ सुहुमसरागो लोभाणू जावमेक्को वि ॥ १३३९ ॥
खीणे खवगनिग्गठो वीसमए मोहसागर तरिउ।
अतोमुहुत्तमुदहिं तरिउ थाहे जहा पुरिसो ॥ १३४० ॥
छउमत्थकालदुचरिमसमए निद्द खवेइ पयल च।
चरिमे केवललाभो खीणावरणतरायस्स ॥ १३४१ ॥

२ आवश्यकनियुक्तिकी मलयगिरिकृत टीकामें बारहवें गुणस्थानमें क्षय की जानेवाली प्रकृतियोंके सम्बन्धमें एक मतान्तरका उल्लेख किया है। लिखा है—

'अन्ये त्वेवमभिदधति-द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रा प्रचला च क्षपयति, नामश्च इमा प्रकृती, तद्यथा-देवगतिदेवानुपूर्व्यौ, वैक्रियद्विक, प्रथमवर्जानि पञ्च सहननानि उदितवर्जानि पञ्च सस्थानानि, आहारकनाम, तीर्थकरनाम च यद्यस्यातीर्थकर प्रतिपत्ता इति। अस्यार्थे च तन्मतेन विशेऽप्यकर्तृका इमा गाथा—"वीसमिऊण नियठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे। पढमे निद्द पयल नामस्स इमाउ पय डीओ ॥ १ ॥ देवगइआणुपुव्वीविउव्विसघयणपढमवज्जाइ। अन्नयर सठाण तित्थयराहारनाम च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरण पचविह दसण चउविकप्प। पचविहमन्तराय खवइत्ता केवली होइ ॥३॥" एतच्च मत मसमीचीनम्, चूर्णिकृतो भाष्यकृत सर्वथा च कर्मग्रन्थकाराणामसम्मतत्वात्, केवल वृत्तिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति। सूत्रेऽप्येता गाथा प्रवाहपतिता नियुक्तिकारकृतास्तु एता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये

यह सयोगकेवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टसे कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करके, यदि उनके वेदनीय वगैरह कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक होती है तो उनके समीकरणके लिये समुद्घात करते हैं, और उसके पश्चात् योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। अन्यथा समुद्घात किये बिना ही योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। सबसे पहले बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म काय योगके

च अग्रहणात् इति ॥' पृ १८७ उ०।

अर्थात्-किन्हींका कहना है कि बारहवें गुणस्थानके उपान्त समयमें निद्रा, प्रचला तथा नामकर्मकी देवगति, देवानुपूर्वी वैक्रियद्विक, पहलेके सिवाय बाकीके पाँच संहनन जिस संस्थानका उदय हो उसके सिवाय शेष पाँच संस्थान, आहारक नाम, यदि क्षपक तीर्थंकर न हुआ तो तीर्थंकर नाम, इन प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसके समर्थनमें किसी अन्य आचार्यकी बनाई हुई तीन गाथाएँ वे उपस्थित करते हैं। जो इस प्रकार है, उनमें लिखा है कि 'जब केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें दो समय शेष रह जाते हैं तो निर्ग्रन्थ पहले समयमें निद्रा प्रचला वगैरहका क्षय करता है और अन्त समयमें ज्ञानावरण वगैरहकी चौदह प्रकृतियोंका क्षपण करके केवली हो जाता है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि चूर्णिकार, भाष्यकार और समस्त कर्मग्रन्थोंके रचयिता आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। केवल वृत्तिकारने किसी अभिप्रायसे इसे लिख दिया है। सूत्रमें भी ये गाथाएँ प्रवाह रूपसे आ मिली हैं, किन्तु ये निर्युक्तिकारकी बनाई हुई मालूम नहीं होती, क्योंकि चूर्णि और भाष्यमें इनका ग्रहण नहीं किया है।

नोट-आगमोदयसमितिसे प्रकाशित नन्द्यादिगाथाद्यकारानुक्रमणिकामें उक्त गाथाओंका नम्बर क्रमश १२४, १२५ और १२६ है और उन्हें आवश्यकसूत्रकी गाथाएं बतलाया है।

द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। उसके पश्चात् सूक्ष्म काययोगको रोकनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको ध्याते हैं। उस ध्यानमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय पर्यन्त आयुकर्मके सिवा शेष कर्मोंका अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगी अवस्थाके कालके बराबर हो जाती है। इतना विशेष है कि अयोगी अवस्थामें जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। सयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका विच्छेद होजाता है। उसके अनन्तर समयमें वह अयोगकेवली होजाते हैं। उस अवस्थामें वह व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। यहाँ स्थितिघात वगैरह नहीं होता, अतः जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो स्थितिका क्षय होनेसे अनुभव करके नष्ट करदेते हैं। किन्तु जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक संक्रमके द्वारा वेद्यमान प्रकृतियोंमें संक्रम करके अयोगी अवस्थाके उपान्त समय तक वेदन करते हैं। उपान्त समयमें ७२ का और अन्त समयमें १३[1] प्रकृतियोंका क्षय करके

---

१ इस सम्बन्धमें मतान्तर है, जिसका उल्लेख छठे कर्म ग्रन्थ तथा उसकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"तचाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संत सगमुक्कोसं जहन्नय बारस हवन्ति ॥ ६८ ॥
मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीववागत्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिमभवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥"

अर्थात्– तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें आनुपूर्वी सहित तेरह

अयोगी नित्य गुरुसे प्राप्त करते हैं ।

प्रकृतियोंकी सत्ता उत्कृष्ट रूपसे रहती है और जघन्यसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवा शेष बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । इसका कारण यह है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी मनुष्यायु, क्षेत्र विपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेष नौ, कोई एक वेदनीय तथा उच्चगोत्र ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भवमोक्षगामीके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं, द्विचरम समयमें नष्ट नहीं होतीं । अतः तद्भवमोक्षगामीके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और जघन्यसे बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ।

किन्तु अन्तमें बारह प्रकृतियोंका क्षय माननेवालोंका कहना है कि मनुष्यानुपूर्वीका क्षय द्विचरम समयमें ही हो जाता है, क्योंकि उसके उदयका अभाव है । जिन प्रकृतियोंका उदय होता है उनमें स्तिबुकसंक्रम न होनेसे अन्त समयमें अपने अपने स्वरूपसे उनके दलिक पाये ही जाते हैं, अतः उनका चरम समयमें सत्ताविच्छेद होना युक्त ही है । किन्तु चारों ही आनुपूर्वियाँ क्षेत्रविपाकी होनेके कारण दूसरे भवके लिए गति करते समय ही उदयमें आती हैं, अतः भवमें स्थित जीवके उनका उदय नहीं हो सकता, और उदयके न हो सकनेसे अयोगी अवस्थाके द्विचरम समयमें ही मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ताका विच्छेद हो जाता है ।

पञ्चमकर्मग्रन्थकी टीकामें ७२+१३का ही विधान किया है इसलिये हमने मूलमें उसे ही स्थान दिया है । कर्मकाण्डमें भी यही विधान है जैसा कि लिखा है– 'उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥ ३४१ ॥' अर्थात् उदयवती बारह प्रकृतियाँ और मनुष्यानुपूर्वी, ये तेरह प्रकृतियाँ अन्त समयमें सत्तासे व्युच्छिन्न होती हैं ।

१ कर्मकाण्डमें क्षपकश्रेणिका विधान इस प्रकार बतलाया है–
"णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा ।
अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टीकरणचरमम्हि ॥ ३३५ ॥

जुगव सजोगित्ता पुणो वि अणियट्टीकरणबहुभाग ।
बोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्म खवदि कमे ॥ ३३६ ॥"

अर्थात्-नरकायुका सत्त्व रहते हुए देशव्रत नहीं होते, तिर्यञ्चायुके सत्त्वमें महाव्रत नहीं होते, और देवायुके सत्त्वमें क्षपकश्रेणि नहीं होती। अत क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके नरकायु तिर्यञ्चायु तथा देवायुका सत्त्व नहीं होता। तथा, असयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत अथवा अप्रमत्त सयत मनुष्य पहलेही की तरह अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें अनन्तानु बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका एक साथ विसयोजन करता है अर्थात् उन्हें बारह कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोहका क्षपण करनेके लिये पुन अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब एक भाग काल बाकी रहजाता है और बहुभाग बीत जाता है तो क्रमश मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षपण करता है, और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। उसके बाद चारित्र मोहनायका क्षपण करनेके लिये क्षपकश्रेणि चढ़ता है। सबसे पहले सातवें गुणस्थानमें अध करण करता है। उसके बाद आठवें गुणस्थानमें पहुचकर पहले की ही तरह स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन वगैरह कार्य करता है। उसके बाद नौवे गुणस्थानमें पहुच कर–

"सोलट्ठेक्किगिछक्क चदुसेक्क बादरे अदो एक्क ।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्ते ॥ ३३७ ॥"

नामकर्मकी १३ और दर्शनावरणकी तीन, इसप्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षपण करता है। उसके बाद उसी गुणस्थानमें क्रमश आठ कषाय नपुसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, सज्वलनक्रोध, सज्वलनमान और सज्वलनमायाका क्षपण करता है। उसके बाद दसवें गुणस्थानमें पहुँचकर सज्वलन लोभका क्षपण करता है। दसवेंसे एकदम बारहवें गुण-

१ पञ्चमकर्मग्रन्थकी मूल गाथाएँ

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छं बंधविह सामी य ॥ १ ॥
वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥
तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेउत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥
पढमतिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा; दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥
निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥
थिरसुभियर विणु अद्धुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥
तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेसवेयतिगं ।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयल सग उरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥
पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥
सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥
आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥ १२ ॥

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
संजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघाइओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥
सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं ।
परघासग तिरिआऊ, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥ १६ ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥
नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिच्छ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥
तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुगनिद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥
घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥
नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर उज्जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥
मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥
एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥
नव छ च्चउ दंसे दु दु ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥
तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नाम ।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥ २६ ॥
मुसु अकसायठिई, बार मुहुत्ता जहण्ण वयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥
विग्घावरणअसाए, तीस अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥
चालीस कसाएसु, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दविलाईणं ॥ २९ ॥
दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥ ३० ॥
भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुग्गंधे ।
वीस कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥
गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥ ३३ ॥
इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥ ३४ ॥
लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥
दो इग मासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिई इ ज लद्धं ॥ ३६ ॥
अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहसंसगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥
सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥
अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइ सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥
विगलसुहुमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥
तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥
सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥
उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥
चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥
साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भवियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥
जइलहुबंधो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू, सुहुमेयरअपज्जपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥
तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साऽइ सक्लिेसेण ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ ५२ ॥
सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असखगुणो ॥ ५३ ॥
असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर सखगुणा, परमपजबिए असखगुणा ॥ ५४ ॥
पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिइमसखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥
तिरिनिरयतिजोयाण, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिग ।
निय नपु इत्थि दुतीस, पणिंदिसु अबधठिइ परमा ॥ ५७ ॥
विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठ ।
पणसीइ सययबधो, पल्लतिग सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥
समयादसखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अतमुहू ।
उरलि असखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥
जलहिसय पणसीय, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे ।
बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरसे ॥ ६० ॥
असुखगइजाइआगिइसघयणाहारनरयजोयदुग ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसाय ॥ ६१ ॥
समयादतमुहुत्त, मणुदुगजिणवइरउरलुवगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥
तिव्वो असुहसुहाण, सकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाइ असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
पुमसजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

निरुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाइ असुहो, असुहाण सुहो सुहाण तु ॥ ६५ ॥
तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥ ६६ ॥
विउव्विसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥ ६७ ॥
तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥
थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥
अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥
विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥
तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं ।
आसुहुमायव सम्मो, व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥ ७२ ॥
तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥
चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥
सेसम्मि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७ ॥
एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥
इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अगहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

अतिमचउफासदुगधपचवण्णरसकम्मखधदल ।
सव्वजियणतगुणरसमणुजुत्तमणतयपएस ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढ, नियमसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाण ॥ ८० ॥
नियजाइलद्धदलियाणतसो होइ सव्वघाइण ।
बज्झतीण विभज्जइ, सेस सेसाण पइसमय ॥ ८१ ॥
सम्मदरसव्वविरई उ अणविसजोयदसखवगे य ।
मोहसमसतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥
गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥
पलियासखसमुहू, सासणइयरगुण अतर हस्स ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धतो ॥ ८४ ॥
उद्धार अद्ध खित्त, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥
दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥
उरलाइसत्तगेण, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबधठाणा य ।
जहतहकममरणेण, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥
अप्पयरपयडिबधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥
मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्ह सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुग।
समचउरंसमसाय, वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजइ।
आहारदुग सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥
सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुग।
सम्मो जिण जहन्न, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥
दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाण।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥
सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।
जोगा पयडिपएस, ठिइअणुभाग कसायाओ ॥ ९६ ॥
चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥
अण दंस नपुंसित्थी, वेय छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥
अण मिच्छ मीस सम्म, तिआउइगविगलथीणतिगुज्जोय।
तिरिनरयथावरदुग, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥
छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी।
देविंदसूरिलिहिय, सयगमिण आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

मूल पञ्चम कर्मग्रन्थ समाप्त।

२ पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

३ अनुवाद तथा टिप्पणमें उद्धृत अवतरणोंका अकारादि अनुक्रम

४ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद तथा टिप्पणी में आगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश[1]

1 इसमें प्राय उन्हीं शब्दोंको स्थान दिया गया है जिनकी परिभाषा अनुवाद या टिप्पणी दी गई है। प्रत्येक शब्द के आगे का अङ्क पृष्ठ का सूचक है तथा बिन्दु के बाद का अङ्क पंक्ति का सूचक है।

स

ह

९ पञ्चमकर्मग्रन्थकी गाथाओंमें आये हुए पिण्डप्रकृतिके सूचक शब्दोंका कोश

शब्द	गाथा	शब्द	गाथा
आकृतित्रिक	८	दुभगत्रिक	५६
आयुत्रिक	४३	दो युगल	८,६१,९२
आवरण	२,८५,९९	नरत्रिक	१५
आहारकसप्तक	९	नरकत्रिक	१६,५६,६६,९३
आहारकद्विक	६१,६७,७०,९२	नरकद्विक	४३,६१,९९
उच्छ्वासचतुष्क	८	पराघातसप्तक	१५
उद्योतत्रिक	२१	प्रत्येक अष्टक	१४
उद्योतद्विक	६१	मनुष्यद्विक	९,६२,६८,७३
औदारिकसप्तक	८	वर्ण	१४
औदारिकद्विक	४४ ६८	वर्णचतुष्क	२,६,१५,१७,६७,७३
खगतिद्विक	९	वर्णादिबीस	८
गोत्रद्विक	१४,२०	विकलत्रिक	४३,५६,६६,७१,९९
जातित्रिक	२०	वेदत्रिक	८
तनुअष्टक	१४,१९	वैक्रियएकादश	९
तनुचतुष्क	२१	वैक्रियद्विक	४३,६७,९१,९३
तिर्यग्द्विक	९,१६,४४,६६,७२,९९	वैक्रियषट्क	४५,७१
तिर्यंचत्रिक	५६	सुभगचतुष्क	२०
तैजसकार्मणसप्तक	८	सुभगत्रिक	६०,७३,९१
तैजसचतुष्क	६७,७३	सुरत्रिक	१५,९१
त्रसादिबीस	३,८,१४,१९	सुरद्विक	४३ ६७,९३
त्रसदशक	१५,६७	सूक्ष्मत्रिक	४३,६६,७१
त्रसत्रिक	२०	स्त्यानर्द्धित्रिक	५६,६९,९९
त्रसचतुष्क	६०,७३	स्थावरदशक	१७,६१
सुभगचतुष्क	२०	स्थावरचतुष्क	५६

पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा सङ्केतविवरण

अनुयोग० सू०, अनुयोग० — अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति सूरत ।

अनुयोगद्वार टीका—आगमोदयसमिति सूरत ।

अभिधर्म०—अभिधर्मकोश, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ।

अभिधर्म० व्या०, अभि०व्या० — अभिधर्मकोशव्याख्या, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ।

आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदयसमिति सूरत ।

आव० नि० टी०—आवश्यकनिर्युक्ति मलयटीका, आगमोदयसमिति ।

कर्मप्रकृति (चूर्णि सहित)— } मुक्ताबाइ ज्ञानमन्दिर डभोइ गुजरात

कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीका } मुक्ताबाइ ज्ञानमन्दिर डभोइ गुजरात

कर्मप्रकृति मलय० टी०—कर्मप्रकृति की मलयगिरि टीका } मुक्ताबाइ ज्ञानमन्दिर डभोइ गुजरात

कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर ।

काललोकप्रकाश—देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था सूरत ।

क्षपणासार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता ।

गो० कर्मकाण्ड, कर्मकाण्ड — गोमटसार कर्मकाण्ड, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला बम्बई ।

---

[1] अनुवाद आदिमें जहां कहीं केवल कर्मग्रन्थ लिखा है, वहां पञ्चम कर्मग्रन्थ ही समझना चाहिये ।

गोमट्टसार जीवकाण्ड } रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई।
जीवकाण्ड }

गीतारहस्य—चित्रशाला स्टीम प्रेस पूना।

छठा कर्मग्रन्थ—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—राय धनपतसिंह बहादुर द्वारा प्रकाशित।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का स० टीका— " "

ज्योतिष्क०—ज्योतिष्करण्डक, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे० स० रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादिदशशास्त्रान्तर्गत।

तत्त्वार्थसूत्र—श्री आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ बम्बई।

त० राजवार्तिक } तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्री जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।
राजवार्तिक }

तत्त्वार्थभाष्य—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, आहर्तप्रभाकर कार्यालय पूना।

त्रिलोकसार—श्रीमाणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमाला बम्बई।

द्रव्यलोक०—द्रव्यलोक प्रकाश, देवचन्द्र लाल भाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

द्वितीय कर्मग्रन्थ—'सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः' के अन्तर्गत, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

नन्द्यादि अकाराद्यनुक्रमणिका—आगमोदय समिति सूरत।

न्या० मञ्ज०—न्यायमञ्जरी, विजयानगर सिरीज काशी।

पञ्चस०—पञ्चसंग्रह मूल, श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दसशास्त्रान्तर्गत।

पञ्चस०—पञ्चसंग्रह सटीक दो भाग, मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई।

पञ्चमकर्मग्रन्थका टवा—प्रकरण रत्नाकर के चतुर्थभाग के अन्तर्गत।

पञ्चम कर्म० स्वोपज्ञटी०
पञ्च० कम० टी०
प० कर्म०
} पञ्चमकर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

पञ्चमकर्मग्रन्थका गुजराती अनुवाद—जैन श्रेयस्कर मण्डल म्हैसाणा।

पञ्चाशक—श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दस शास्त्रान्तर्गत।

पञ्चास्ति०—पञ्चास्तिकाय, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई।

प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्रीभीमसी माणक बम्बई।

प्र० कर्मग्र०—प्रथमकर्मग्रन्थ, 'स्टीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत, भावनगर।

प्रवचनसा०
प्रवचन०
} प्रवचनसारोद्धार, देवचन्द लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

प्रवचन० टी०—प्रवचनसारोद्धार की टीका, देवचन्द लालभाइ सूरत।

प्रवचनसार अमृत० टी०—प्रवचनसार की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका, रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद भाष्य, विजयानगर सिरीज काशी।

प्रशस्त० कन्दली०—प्रशस्तपाद भाष्य की कन्दली टीका, विजयानगर सिरीज काशी।

ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र, निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

भ० गीता—भगवद्गीता निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

मिलिन्दप्रश्न—महाबोधि सोसयटी सारनाथ, बनारस।
योगद०—योगदर्शन, व्यासभाष्य तथा तत्ववैशारदी और भास्वती आदि टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस।
लब्धिसार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।
लो० प्र०—लोकप्रकाश, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारसंस्था सूरत।
विशे० भा० } —विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्य प्रणीत टीका
विशेषा० भा० } सहित, श्वेताम्बरसंस्था रतलाम।
विशे० } ,, बृहद्वृत्ति सहित, यशोविजय ग्रन्थमाला काशी
विशेषणवती—श्वेताम्बर संस्था रतलामद्वारा प्रकाशित।
बृहत्कर्म० भा०—बृहत्कर्मस्तव भाष्य।
संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरिरचित)–प्रकरणरत्नाकरके चतुर्थभागके अन्तर्गत।
सटी० च० कर्म०—सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था, श्री आत्मानन्द सभा भावनगर।
समयप्राभृत—काशीस्थ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था।
सर्वार्थसिद्धि—जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।
सांख्यकारिका—चौखम्बा काशी।
माठ० वृ०—सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति, चौखम्बा काशी।

शुद्धिपत्र

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१७	२१	सुहमस्य	सुहुमस्म
२१	१८	उद्योग	उद्योत
४०	७	आवश्यकचूर्णि	आवश्यकनिर्युक्ति
५४	१५	भवविपाकी	क्षेत्रविपाकी
५१	२५	पञ्च० स	पञ्चस०
९६	१०	पञ्चन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
१०८	१५	उतरार्द्ध	उत्तरार्द्ध
१२०	२३	उच्छ्वास	उच्छ्वास
१७३	२२	सव्वग्ध	सव्वग्घ
२०६	५	वर्णणाएँ	वर्गणाएँ
२२	१५	रूप	रव
२४३	१९	सपुत्र	सपुन्न
२७२	१३	अद्धापल्योपम	अद्धापल्य
३०७	२३	बन्ध	बन्ध
३३१	१४	मभिन्धति	मभिदधति
३६८	६	प्रज्ञप्ति का	प्रज्ञप्तिकी

हिन्दी व्याख्यासहित

पञ्चमकर्मग्रन्थ

समाप्त

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशन मुहल्ला, आगरा से
प्रकाशित पुस्तकों की सूची

१ सामायिक और देव वन्दन सूत्र विधि	-)
२ देवसि राई प्रतिक्रमण—मूल	।)
३ जीव विचार—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	।-)
४ नवतत्व—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	।-)
५ दण्डक—हिन्दी भावार्थ अनु० पं० सुखलालजी	।)
६ कर्मग्रन्थ पहला—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।।)
७ कर्मग्रन्थ दूसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।।)
८ कर्मग्रन्थ तीसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।)
९ कर्मग्रन्थ चौथा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	२)
१० योग दर्शन तथा योग विंशिका—न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी उपाध्याय कृत तथा वर्णित-हिन्दी अनुवाद सहित।	१।।)
११ दर्शन और अनेकान्तवाद—कर्त्ता पं० हंसराजजी शर्मा शास्त्री, इसमें जैनधर्म का अन्य दर्शनों के साथ मेल दिखाया है।	।।)

१२ पुराण और जैनधर्म—लेखक प० हंसराजजी शास्त्री |||)
१३ भक्तामर कल्याण मन्दिर स्तोत्र—हिन्दी अनुवाद सहित मूल तथा हिन्दी =)||
१४ वीतराग स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक प० चुन्नीलालजी =)
१५ अजित शान्ति स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक मुनि श्री माणिक्य विजय जी।)||
१६ श्री उत्तराध्ययन सूत्र सार—लेखक मुनि श्री माणिक्य विजय जी। =)
१७ बारह व्रत की टीप—लेखक मुनि श्री दर्शनविजय जी ≡)
१८ जिन कल्याणक संग्रह—इसमें २४ भगवान् के कल्याणक कहाँ और कब हुये सब बतलाया है। -)
१९ ज्ञान थापने की विधि—ज्ञान पंचमी के तप करनेवालों को यह पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये। ≡)
२० भजन पचासा—कर्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें कुरीति सुधार के ऊपर बड़े मनोहर गायन हैं। -)||
२१ भजन मंजूषा—कर्ता सेठ ऋषभदासजी नाहटा सिकन्दराबाद, इसमें नवीन राग रागनी स्तवन के हैं।)||
२२ हिन्दी जैन शिक्षा भाग १—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है)||
२३ हिन्दी जैन शिक्षा भाग २—लेखक धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य

२४ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ३**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, बच्चों को पढ़ाने के लिये सर्वोत्तम पुस्तक है। -)॥

२५ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ४**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। =)

२६ **कलियुगियों की कुलदेवी**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें वेश्या नृत्य का खण्डन है।)॥

२७ **सदाचार रक्षा, प्रथम भाग**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करनेवाली ५४ कुरीतियों का खण्डन किया गया है, यदि गृहस्थ अपनी सन्तान को सदाचारी बनाना चाहें तो इसे अवश्य पढ़ें और इन कुरीतियों से बचावें तो शर्तिया सन्तान सदाचारी बन सकती है। ।-)

२८ **प्राचीन कविता सग्रह**—सेठ जवाहरलालजी नाहटा द्वारा सग्रहीत, इसमें शत्रुन्जय का रास, गौतम स्वामी का रास, हो रानी पद्मावती, पुण्य प्रकाश स्तवन, श्रावक की करणी, महावीर स्वामी का पारणादि अनेक प्राचीन कवितायें हैं। ।=)

२९ **देव परीक्षा**— -)॥

३० **विमल विनोद**—कर्त्ता मुनि श्री विमल विजयजी, इसमें विधवा विवाह का खण्डन उपन्यास के ढग पर किया गया है और आर्य्य समाज के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सरलता से किया गया है। ॥=)

श्रमण जैन ग्रन्थालय